द्वितीय अध्याय

आलोचना: अवधारणा एवं स्वरूप

मनुष्य की रचनाशीलता का इतिहास पुराना है तो आलोचना की परम्परा भी नयी नहीं है। परिपक्व रचनाशीलता के साथ आलोचना का भी अस्तित्व रहता है। साहित्य के परिचित इतिहासों पर नज़र डालें तो साहित्य के साथ साहित्य के सिद्धांत भी रहे हैं और रचनाकारों की समीक्षा करके उनकी श्रेणी निर्धारण की परम्परा, साहित्य का आस्वाद लेने के लिए सहृदय समाज को शिक्षा देने की परम्परा भी आज से कम-से-कम ढाई-तीन दशक पुरानी है। आधुनिक काल से पहले तक की आलोचना ने साहित्य और इसके घटकों को परिभाषित करने का काम किया। आलोचना की अवधारणा को परिभाषित करने का प्रयास अपेक्षाकृत आधुनिक है। खासकर पिछली शताब्दी, यानी बीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य साहित्य वाङ्मय में और भारतीय साहित्य वाङ्मय में आलोचना की अवधारणा पर बहुत विचार किया गया है।

आलोचना शब्द के शाब्दिक अर्थ पर अनेक बार लिखा गया है। शाब्दिक अर्थ जल्दी नहीं बदलता, शाब्दिक अर्थ में निहित तात्कालिक मान्यताएँ परिवर्तनशील होती हैं। देवीशंकर अवस्थी के शब्दों में कहें तो 'न साहित्य स्थिर है न साहित्यशास्त्र।'[1] जैसे हर

युग 'कविता क्या है' सवाल करता है, वैसे ही बीसवीं सदी के अलग-अलग दशकों में 'आलोचना क्या है' का उत्तर भी युगानुसार खोजने के प्रयास हुए हैं। इस शोध-प्रबंध के इस अध्याय में इन्हीं परिवर्तनशील मान्यताओं के विश्लेषण के द्वारा आलोचना की अवधारणा को समग्रता में समझने का प्रयास अपेक्षित है। आलोचना की अवधारणा में सवाल केवल आलोचना क्या है का नहीं है, बल्कि साथ ही आलोचना का दायित्व, उसके तरीके, उसकी कसौटियों, रचना से आलोचना के सम्बन्ध आदि सवाल भी निहित होते हैं। यहाँ आधुनिक हिंदी साहित्य में आलोचना की अवधारणा पर ही विचार किया जाएगा, साथ ही प्रसंगवश पाश्चात्य आलोचना की उन अवधारणाओं पर भी विचार किया जाएगा जिनसे हिंदी आलोचना दूर तक प्रभावित हुई है।

2.1 साहित्यिक विधा के रूप में आलोचना: भारतीय और पाश्चात्य अवधारणा

भारतीय अवधारणा: हिंदी में आलोचना की शुरूआत विधिवत रूप से उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से होती है। हालांकि भारतीय साहित्य वाङ्मय में साहित्य-चर्चा और साहित्य सिद्धांत-निरूपण की परम्परा अत्यंत प्राचीन है। प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र में एक विधा के रूप में आलोचना के लक्षणों पर तो विचार नहीं मिलता पर काव्य के भावक के रूप में आलोचक की मौजूदगी और उसकी महत्ता का उल्लेख मिलता है। काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने 'भावक' या आलोचक के लक्षण, उसके गुण, उसके प्रकार तथा उसकी आवश्यकता पर विस्तार से विचार किया है। भावक को कवि के ही समान महत्व देते हुए राजशेखर ने उसे कवि का स्वामी, मित्र, शिष्य और गुरु कहा है-

> स्वामी मित्र च मंत्री च शिष्यश्चार्य एव च।
> कर्वेभवति ही चित्र कि हि तद्यन्न भावक॥[2]

अर्थात् भावक स्वामी की भाँति कवि की रचना के सौंदर्य तथा उन गूढ़ भावों का साक्षात् कर लेता है जिन्हें स्वयं कवि भी नहीं देख पाता; वह अधिकारपूर्वक कवि की रचना की ऐसी व्याख्या करता है जो कवि स्वयं करने में असमर्थ होता है। मित्र की भाँति वह उसके काव्य को अधिक रसपूर्ण तथा प्रभावशाली बनाने की सलाह देता है; उसके गुणों की प्रशंसा करता है तथा दोषों की ओर ध्यान दिलाकर उसके काव्य को दोषमुक्त बनाने में सहायक होता है। एक शिष्य की भाँति वह कवि से बहुत-कुछ सीखता है और एक गुरु की भाँति काव्य-संबंधी बहुत-सी बातों का ज्ञान देता है।[3] **भावक का महत्व यहाँ तक है कि राजशेखर सत्काव्य उसी को कहते हैं जो भावक के मन को प्रभावित करे तथा उसकी स्मृति पर अंकित हो जाए।**

भावयित्री प्रतिभा से सम्पन्न भावक जो काम करता है वही समीक्षा है—रचना के सौंदर्य और गूढ़ भावों तक पहुँचना तथा उसकी व्याख्या करना, सहृदय समाज में प्रतिभावान कवि की उत्कृष्ट रचना की प्रशंसा कर उसके महत्व को स्थापित करना, काव्य में दोष हों तो उन दोषों का भी विश्लेषण कर उनके सुधार का मार्ग सुझाना, काव्य से अच्छाई ग्रहण कर अधिक संवेदनशील होना और काव्यावलोकन के अपने अनुभव से कवि को आवश्यकतानुसार सीख देना पुराने समय से ही आलोचक का दायित्व माना गया है। इस तरह काव्य के साथ काव्य की सम्यक चर्चा का वातावरण भी भारतीय साहित्य-परम्परा में रहा है। काव्य की पुस्तकों के साथ काव्यशास्त्र के रचयिता भी बहुत रहे। संस्कृत के बाद देशी भाषाओं के साहित्य में कुछ साहित्य रचना हो चुकने के बाद लक्षण-ग्रंथों के रूप में कुछ साहित्यशास्त्रीय चर्चा (रस-अलंकार निरूपण आदि) के प्रयास दिखते हैं जिनमें संस्कृत काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों के आधार पर ही देशी भाषा के काव्य के लक्षण और नायिकाभेद आदि आदि गिनाए गए हैं जिनमें मौलिकता का अभाव है।

गद्य की अन्य प्रमुख आधुनिक विधाओं के साथ आलोचना के आरम्भिक रूप के दर्शन हिंदी में भारतेन्दु युग से होते हैं। भारतेन्दु युग में बालकृष्ण भट्ट तथा बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने नये साहित्य पर अपनी सामर्थ्यानुसार समालोचना लिखी। इस युग में समालोचना केवल पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने के लिए ही लिखी जाने वाली चीज़ समझी जाती थी, जिससे समालोचित पुस्तक या रचना के विषय में पत्र-पत्रिकाओं के पाठक-समूह को अवगत कराया जा सके तथा उसमें एक साहित्यिक रुचि का निर्माण किया जा सके। 'सच पूछिए तो मासिक पत्र का ही का कार्य्य है कि ऐसी समालोचना लिखे' कहने वाले प्रेमघन अपने लेख 'नागरी के समाचार-पत्र और उनकी समालोचना' में लिखते हैं-

"रीव्यू अर्थात् समालोचना का अर्थ पक्षपात रहित होकर न्यायपूर्वक किसी पुस्तक के यथार्थ गुण-दोष की समीक्षा करना और उससे ग्रंथकर्ता को विज्ञप्ति देना है क्योंकि रचित ग्रंथ के रचना के गुणों की प्रशंसा कर रचयिता के उत्साह को बढ़ाना एवं दोषों को दिखला कर उसके सुधार का यत्न बताना कुछ न्यून उपकार का विषय नहीं है। परंतु यह एक कठिन वस्तु भी है, क्योंकि प्रथम तो किसी अच्छे ग्रंथ की समालोचना करने के लिए समालोचक की योग्यता उसके ग्रंथकर्ता से अधिक अपेक्षित है, दूसरे उसे भी उतनी ही सावधानी और परिश्रमपूर्वक उसे देखने की आवश्यकता है जितनी उसके ग्रंथकर्ता को उसके संशोधन में होती है। इसी से बिना इतने के तो उसका सुसम्पन्न होना ही दुर्लभ है, रहा यह कि मतभेद आग्रह पक्षपात, ईर्षा, द्वेष, शुश्रुषा, संकोच और दबाव, यह कठिनता उसके दोष के कारण हैं, परंतु पूर्वोक्त गुणयुक्त और इन दोषों से रहित जो समालोचना लिखी जाय यथार्थ समालोचना कहाने की योग्यता वही रखती है। सच्ची समालोचना एक स्वच्छ दर्पण तुल्य है कि जो शृंगार की सजावट को दिखाती और उसके दोषों तथा साहित्य की दुष्टाकृति को

बतलाती। यह एक कसौटी है कि जिसपर वर्ण सुवर्ण का खरा और खोटापन झलकता है; यह वह दीपक है कि जिसकी सहायता से अंधेरी कोठरी में धरे अच्छे और निकृष्ट दोनों पदार्थ देख पड़ते अथवा वह उपनेत्र (चश्मा) है कि जिसके द्वारा अति सूक्ष्म पदार्थ हीन दृष्टि वाले जन को भी सहज में सुझाई पड़े।"[4]

साथ ही संयोगिता स्वयंवर की समालोचना लिखते हुए इस नाटक के दोष न दिखाकर केवल झूठी प्रशंसा करने वाले 'खुशामदियों' और उनके लेख प्रकाशित करने वाले आलोचकों को संबोधित करते हुए लिखते हैं-

"...अपने मित्र ग्रंथकर्ता और समालोचक समूह से यह प्रार्थना करते हैं कि यों मनमाना लेख न लिख मारा करें, विशेषकर सम्पादकों को इस पर विशेष ध्यान रखना चाहिये। क्योंकि उनकी सम्मति सर्वसाधारण को विश्वसित प्रमाण रूप होती है; उन्हें अपनी पक्षपात शून्य यथार्थ सम्मति प्रकाश करनी चाहिये चाहे ग्रंथकर्ता रुष्ट क्यों न हो जाय परंतु चापलूसी और खुशामद सम्पादकों को कलंक का कारण है।"[5]

प्रेमघन के इन दोनों उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग में आलोचना का आधुनिक स्वरूप भले ही अपनी आरम्भिक अवस्था में था, अधिकतर पुस्तक-समीक्षा और गुण-दोष दर्शन तक ही इसके दायरे में आ सके थे; लेकिन साहित्य की उन्नति के लिए आलोचना का होना और आलोचना की गरिमा का ध्यान इस युग के साहित्यकारों को कम नहीं था। समालोचक और पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक को सर्वसाधारण का दृष्टि-निर्माता माना जाता था। अतः उनमें लेखक से अधिक प्रतिभा और तैयारी, आलोचकीय विवेक, सत्य कहने का साहस, पक्षपातहीनता को सच्ची आलोचना का गुण आधुनिक हिंदी साहित्य के इस निर्माण काल में भी प्रमुख माना जाता था।

उन्नीसवीं शताब्दी को डॉ. निर्मला जैन आलोचना का संक्रमण काल कहती हैं, क्योंकि इस दौर में साक्षरता और पत्र-पत्रिकाओं के व्यापक प्रचलन से हिंदी साहित्य जगत में उस दौर के मध्यवर्गीय जन-समुदाय की रुचि को ध्यान में रखकर नये साहित्य का सृजन होने लगा था।[6] युग और युगीन साहित्य की बदली हुई मनोवृत्ति के दबाव से आलोचना का भी नये ढंग से विकास हुआ क्योंकि समसामयिक विषयों पर लिखे जा रहे नाटकों तथा अन्य साहित्य रूपों के विश्लेषण-मूल्यांकन में प्राचीन लक्षण-ग्रंथ कारगर नहीं थे।

उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशक में आकर यह हुआ कि साहित्यिक विधा के रूप में आलोचना के स्वरूप-निर्धारण सम्बन्धी लेख आदि छपने लगे। सन् 1897 में 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का लेख 'समालोचना' प्रकाशित हुआ, जिसमें आलोचना के मूल चरित्र की चर्चा है। सन् 1898 में इसी पत्रिका में जगन्नाथदास रत्नाकर द्वारा अनूदित 'समालोचनादर्श' (अठारहवीं सदी के प्रसिद्ध अंग्रेज कवि अलेक्जेंडर पोप के पद्य-लेख 'एस्से ऑन क्रिटिसिज्म' का ब्रजभाषा पद्य में अनुवाद) प्रकाशित हुआ। हिंदी आलोचना का क्षेत्र रचना की युगानुरूप समीक्षा के साथ-साथ स्वयं के स्वरूप को लेकर भी सजग होने लगा।

प्रेमघन ने मासिक पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों से जिस आलोचकीय विवेक की माँग की है, वह महावीरप्रसाद द्विवेदी में पूरी तरह मिलती है। साहित्य जीवन का समग्र चित्र है अतः इसके मर्म को समझने तथा इसका विश्लेषण मूल्यांकन करने के लिए इसके तकनीकी और सौंदर्यशास्त्रीय पक्ष का ज्ञान होना ही काफी नहीं है। आलोचक जगत-जीवन के विविध पक्षों—सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक आदि जितने पक्षों का ज्ञाता होगा, साहित्य में व्यक्त जीवन-दर्शन को उतने बेहतर समझ सकेगा। हिंदी साहित्य वाङ्मय में महावीरप्रसाद द्विवेदी ऐसे अन्यतम विद्वान संपादक थे जिन्होंने हिंदी को

दुनिया भर के ज्ञान-विज्ञान से जोड़ा और अपनी सरस्वती के माध्यम से हिंदी में एक अंतर्विषयक ज्ञान का परिवेश निर्मित किया। द्विवेदीजी अपने लेखों के माध्यम से हिंदी के नये साहित्यकारों को रीतिकालीन भाषा और भावधारा से मुक्त होकर समाज-सजग दृष्टिकोण से युग की माँग के अनुसार साहित्य के निर्माण की ओर अग्रसर करते रहे।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने आलोचनात्मक लेखों में यत्र-तत्र समालोचना विषयक अपनी धारणा को व्यक्त किया है। समालोचना को वे रचना के गुण-दोष दिखाने के उद्देश्य से प्रेरित मानते हैं तथा समालोचक को व्याख्याकार से अधिक निर्णायक मानते हैं। उनके अनुसार, "समालोचक की उपमा न्यायाधीश से दी जा सकती है। जैसे न्यायाधीश राग, द्वेष और पूर्व-संस्कारों से दूर रहकर न्याय करता है, सच्चा समालोचक भी वैसा ही करता है। उसके फैसले को सुनकर कोई प्रसन्न होगा या अप्रसन्न, उसकी निंदा होगी या प्रशंसा, इसकी वह कुछ परवाह नहीं करता।"[7] ध्यान देने की बात है कि प्रेमघन की तरह महावीरप्रसाद द्विवेदी भी समालोचक को राग-द्वेष, पक्षपात आदि से परे रहकर निंदा आदि की परवाह न कर साहस के साथ 'सच्ची' समालोचना करने की बात कहते हैं। आलोचना विधा के विकास के इस प्रारम्भिक दौर में ही आलोचना के साथ 'सच्ची' विशेषण लगना तथा आलोचक में पक्षपातरहित ईमानदार साहस की माँग करना हिंदी साहित्य-संसार में लम्बे समय तक साहित्य-चर्चा की हीन स्थिति का परिचायक है। भावक या सहृदय के स्थान पर खुशामदियों या द्वेषियों की ही संख्या अधिक होगी। मूल्यों के स्थान पर व्यक्ति-पूजा का परिवेश रहा होगा। ऐसे माहौल में गुण दर्शन तो बहुत सरल और फायदेमंद काम होता है पर दोष-दर्शन समालोचक के लिए न केवल निंदा सहने का बल्कि आर्थिक-सामाजिक घाटा झेलने का भी जोखिम साबित होता था। प्रेमघन ने तो अपने लेखों में खराब पुस्तकों की निंदा-स्वरूप कितने ही बड़े ओहदेदार लोगों का कोप झेला और पत्रिका

के कई ग्राहक खोकर आर्थिक हानि सही। पुराने महान साहित्यकारों की रचनाओं में दोष-दर्शन के कारण महावीरप्रसाद द्विवेदी को जब बहुत निंदा सहनी पड़ी, तब उन्होंने लिखा- "पश्चिमी देशों के विद्वान भारतवर्ष के पंडितों पर यह दोषारोपण करते हैं कि वे समालोचना करना नहीं जानते। गुण-दोष-परीक्षा करने की क्षमता उनमें नहीं। "Critical faculty" से वे प्रायः खाली हैं। जिस देश के पढ़े-लिखे लोगों का यह हाल है कि पुराने ग्रंथों के दोष दिखलाना वे पाप समझते हैं उनमें गुण-दोष-निर्णायक शक्ति, बतलाइए, कैसे उत्पन्न हो सकती है। ऐसी शक्ति उत्पन्न हो या न हो, बोलो मत। वाल्मीकि या कालिदास के दोष दिखलाकर नरक में जाने का उपक्रम मत करो। यदि समालोचना किये बिना न रहा जाये तो प्राचीन ग्रंथकारों के गुण ही गुण गावो। भाषा विज्ञान और गुण-दोष-विवेचनात्मक आलोचना सीखने के लिए गवर्नमेंट भारतीय युवकों को विलायत और जर्मनी भेजे तो उसे भेजने दो। तुम क्यों पुराने पंडितों के दोष दिखाकर व्यर्थ के लिए पातक मोल लेते हो ? न सुनोगे तो तुम्हें वर्षों गालियाँ सुनावेंगे और तुम्हारे लेख ही की नहीं, तुम्हारी भी समालोचना करेंगे। जो लोग पुरानों की पुस्तकों की समालोचना के खिलाफ हैं वे, और, कतिपय हमारे मित्र ऐसी ही तर्कना करते हैं। परंतु, समय की गति को रोकना किसी के साथ में नहीं।"[8] समय की गति के साथ चलते हुए हिंदी के साहित्यसेवी समाज में क्रिटिकल फैकल्टी के विकास के लिए, उसे व्यक्ति-पूजा की मनोवृत्ति से निकालकर वस्तुनिष्ठ विचार-विमर्श के योग्य बनाने के लिए हिंदी के आरम्भिक आलोचकों-सम्पादकों ने यथाशक्ति प्रयास किए। साहित्यिक आलोचना को उन्होंने समाज के नवीन मानसिक निर्माण के उद्देश्य से जोड़ा।

उन्नीसवीं सदी के आखिरी दो दशकों से लेकर बीसवीं सदी के आरम्भिक दो दशकों तक हिंदी आलोचना का जिस तरह का स्वरूप विकसित हुआ उसके विषय में अपने 'साहित्यालोचन' में तत्कालीन विद्वान समालोचक डॉ. श्यामसुंदरदास ने लिखा है- "हिंदी

आलोचना के अभी तक चार रूप रहे हैं—(1) इतिहास, (2) तुलना, (3) भूमिका और (4) परिचय। साहित्य के इतिहास लिखे गए हैं, कई कवियों का तुलनात्मक आलोचन हुआ है. प्राचीन तथा नवीन ग्रंथों की भूमिकाएँ लिखी गई हैं और नित्यप्रति पत्र-पत्रिकाओं में परिचय के रूप में छोटी-छोटी आलोचनाएँ निकला करती हैं पर अभी दो बहुत आवश्यक अंग छूटे पड़े हैं—(1) कवि की सांगोपांग आलोचना। (2) आलोचना-शास्त्र का स्थिर रूप।"[9] डॉ. श्यामसुंदरदास के कनिष्ठ समकालीन आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी आधुनिक आलोचना में उपर्युक्त चार बातों के अलावा कवि की सांगोपांग आलोचना करने वाली पुस्तकों की आवश्यकता को महसूस किया जो 'किसी कवि की विशेषताओं का दिग्दर्शन करानेवाली, उसकी विचारधारा में डूबकर उसकी अंतःवृत्तियों की छानबीन करने वाली हो, जिसमें गुणदोष का कथन भी आ जाए और जो स्थायी साहित्य में स्थान पाने योग्य हो।'[10] पुरानी परिपाटी की आलोचना और तात्कालिक उद्देश्य से प्रेरित भूमिकाओं-समीक्षाओं के पर्याप्त लेखन के बाद हिंदी आलोचना में दीर्घजीवी विशेषताओं वाली प्रौढ़ आलोचना की आवश्यकता महसूस की जाने लगी।

ऐसे में विश्वविद्यालयों में हिंदी भाषा और साहित्य की ऊच्च शिक्षा आरम्भ होने से हिंदी आलोचना के अध्ययन तथा विकास में नया आयाम जुड़ा। इस परिघटना को डॉ. निर्मला जैन ने गम्भीरता से लक्षित करते हुए लिखा है- "साहित्य के क्षेत्र के अलावा इसी समय शैक्षिक जगत् में भी एक ऐसी महत्वपूर्ण घटना घटी जिसने हिंदी आलोचना को बहुत दूर तक प्रभावित किया। देश में स्वतंत्रता आंदोलन का तेजी से प्रचार-प्रसार हो रहा था। जनता और विशेषकर शिक्षित समाज में स्वभाषा और साहित्य के प्रति सजगता निरंतर बढ़ रही थी। इसी गौरव-बोध के परिणामस्वरूप भारत के विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तर स्तर पर हिंदी के अध्ययन-अध्यापन का सिलसिला आरम्भ हुआ। 1920 ईसवी के आसपास

काशी विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग की स्थापना हुई। यह घटना हिंदी आलोचना के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रमाणित हुई। शिक्षा का विषय बन जाने के कारण अन्य विषयों की तरह हिंदी साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की सुव्यवस्थित प्रणाली का विकास आवश्यक हो गया। व्यक्तिगत रुचि और राग-द्वेष से मुक्त वातावरण में वाद-विवाद से ऊपर उठकर साहित्य के गम्भीर अध्ययन और मनन की आवश्यकता समझी जाने लगी और इसके लिए उपयुक्त अवसर भी उपस्थित हुआ।"[11] काशी विश्वविद्यालय तथा अन्यत्र शिक्षा क्षेत्र से जुड़े आलोचकों तथा विद्वानों में श्यामसुंदरदास, रामचंद्र शुक्ल के अलावा लाला भगवानदीन, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पं. जनार्दनप्रसाद झा द्विज, पं. भुवनेश्वरनाथ मिश्र माधव आदि हुए जिन्होंने हिंदी साहित्य की उच्च शिक्षा के अनुरोध से हिंदी आलोचना को समृद्ध किया। अपने साहित्येतिहास में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी गद्य की अपने समय की गति की सूचना देते हुए 'समालोचना' खंड में इन आलोचकों के योगदान को रेखांकित करते हुए लिखा है- "इस तृतीय उत्थान में समालोचना का आदर्श भी बदला। गुणदोष के कथन से आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं और उनकी अंतःवृत्ति की छानबीन की ओर भी ध्यान दिया गया। तुलसीदास, सूरदास, जायसी, दीनदयाल गिरि और कबीरदास की विस्तृत आलोचनाएँ पुस्तकाकार और भूमिकाओं के रूप में भी निकलीं।...इनमें से कुछ पुस्तकें तो समालोचना की असली पद्धति पर निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक दोनों ढंग लिए हुए चलीं हैं तथा कवि के बाह्य एवं आभ्यंतर दोनों का अच्छा परिचय कराती हैं।...इन सब पुस्तकों से हमारा समीक्षा साहित्य बहुत-कुछ समृद्ध हुआ है, इसमें संदेह नहीं।"[12]

हिंदी आलोचना विश्वाविद्यालयीय आलोचना से समृद्ध होने लगी लेकिन इस क्षेत्र की आलोचना अधिकतर अनुसंधान और पांडित्य से प्रेरित होने के कारण कुछ सीमित भी होती गई। इस बात को रेखांकित करते हुए डॉ. जैन लिखती हैं- "इस प्रसंग का एक दूसरा

पक्ष भी है। विश्वविद्यालयीय आलोचना के सामने यह खतरा हमेशा बना रहता है कि वह सर्जनात्मक साहित्य से दो कदम पीछे रहने के आग्रह के कारण पिछड़ जाता है और संतुलन एवं निष्पक्षता बनाए रखने के फेर में उसकी आलोचना अक्सर निष्प्राण हो जाती है। वह अन्य अनुशासनों की भाँति एक निश्चित अनुशासन में बँधा रहकर विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए शिक्षोपयोगी सामग्री जुटाता रहता है। परंतु इन सारे खतरों के बावजूद हिंदी में गम्भीर रूप से शास्त्रीय चिंतन का आरम्भ उन्हीं ग्रंथों से हुआ जो मूलरूप से स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में रखने के लिए तैयार किए गए थे।"[13] लेकिन इसके आगे का हिंदी आलोचना का इतिहास, अनुसंधानपरक हो या युगचेतना-निर्धारन में हस्तक्षेप करने वाली प्रतिबद्ध व्यावहारिक आलोचना, विश्वविद्यालयों से जुड़े अध्यापक आलोचकों ने ही अधिकांशतः निर्मित किया है।

बीसवीं सदी के प्रारम्भिक दशकों के बीतते-बीतते हिंदी आलोचना का दायरा बढ़ता है और इस तरह वह मासिक पत्रों में छपने वाली और ग्रंथकर्ता को ग्रंथ के गुण-दोष की विज्ञप्ति देने की चीज़ भर न रहकर एक स्वतंत्र ज्ञानानुशासन बन जाती है। हिंदी आलोचना को शास्त्रीय दृष्टि से युक्त और सहृदयता से सम्पन्न उसका मौलिक रूपाकार देने में इस युग में आचार्य रामचंद्र शुक्ल की भूमिका सर्वस्वीकृत है।

शुक्लोत्तर आलोचना की बृहत्त्रयी माने जाने वाले नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेंद्र और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी आलोचना में सौष्ठववादी, अनुसंधानात्मक और ऐतिसाहिक-सांस्कृतिक दृष्टियों का प्रयोग करके इसके आयाम का विस्तार किया तथा साथ ही आलोचना के बारे में पूर्ववर्ती धारणा को अपने समय के अनुरूप विस्तार दिया। नंददुलारे वाजपेयी साहित्य की रचना और उसकी आलोचना को धारा को समानांतर मानते हुए कहते हैं- " वस्तुतः देश और समाज की परिवर्तनशील परिस्थितियाँ ही एक ओर साहित्यिक

निर्माण की दिशा का निश्चय करती हैं, और दूसरी ओर समीक्षा का स्वरूप भी निर्धारित करती हैं।"[14] साहित्य और समीक्षा दोनों में किसी भी तरह के मतवाद को हानिकारक मानने वाले वाजपेयीजी पुराने साहित्यशास्त्रियों की तरह साहित्य के मूल्यों और साहित्यशास्त्र के मानदंडों को शाश्वत नहीं मानते, बल्कि देश और समाज की परिस्थियों के परिवर्तन से तय होने वाली परिवर्तनशील चीज़ें मानते हैं।

'साहित्य और समीक्षा' शीर्षक अपने लेख में आलोचना तथा आलोचक संबंधी अपनी मान्यता स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- "आलोचक के कर्तव्य-कर्म दो हैं- पहला है लेखक और पाठक के बीच द्विभाषण। इसकी परिधि में व्याख्या, निर्णय और स्थान नियोजन सभी कुछ आ जाता है। दूसरा है आलोच्य वस्तु के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करना, जिसके बल पर ही आलोचना साहित्य-पद को प्राप्त हो सकती है।"[15] डॉ. नगेंद्र के लिए आलोचना वही है जिसके माध्यम से आलोचक अपने को अभिव्यक्त करता है, अर्थात् आलोचना का आत्मनिष्ठ होना वे आवश्यक शर्त मानते हैं।

आलोचना कला है या विज्ञान, इस प्रश्न के उत्तर में डॉ. नगेंद्र ने आलोचना को कला का विज्ञान मानते हुए अपनी रसवादी दृष्टि से आलोचना की रचना-प्रक्रिया पर अपने लेखों में विचार किया है। अपने लेख 'स्वतंत्रता के पश्चात् हिंदी-आलोचना' में वे लिखते हैं- "...सर्जनात्मक साहित्य का अंग होते हुए भी आलोचना उस अर्थ में कला नहीं हो सकती जिस अर्थ में कविता, नाटक या उपन्यास। रस-सृष्टि के आवश्यक चित्त की समाहिति तो यहाँ भी अनिवार्य है किंतु वह केवल परिणति की अवस्था है। प्रक्रिया में तो भावना और कल्पना की अपेक्षा चेतन मन का विवेक ही अधिक प्रबुद्ध रहता है। फिर भी सफल आलोचना का उद्भव रस में से होता है और उसका निलय भी रस में होना चाहिए अर्थात् जब तक आलोचक र्स से रसार्द्र होकर अपनी विवेचना का आरम्भ नहीं करता और जब

तक उसकी विवेचना सहृदय पाठक के मन में आलोच्य के प्रति रसोद्बोध नहीं करती, तब तक वह सफल नहीं हो सकता। इस दृष्टि से प्रेरणा और सिद्धि की अवस्था में कला होते हुए भी अपनी साधनावस्था में आलोचना निश्चय ही शास्त्र है—दूसरे शब्दों में उसमें सृजन के साथ निर्माण का भी बहुत बड़ा योग है।"[16] आलोचना को कृतिकार का मार्गदर्शक या पाठक को कवि का आशय समझाने वाला शिक्षक भर न मानकर डॉ. नगेंद्र ने इसे आलोचक रूपी विशेष रस-ग्राही पाठक द्वारा गृहीत रस को सर्वसुलभ कराने का प्रयत्न माना है।[17]आलोचना पर विचाराधारा और मतवाद के बढ़ते प्रभाव को नंददुलारे वाजपेयी की तरह डॉ. नगेंद्र ने भी खतरा मानते हुए लिखा है- "आज केवल एक खतरा है—बढ़ती हुई एकांगिकता का, जो दूसरे पक्ष की ओर असहनशील होती चली जा रही है। वस्तुतः विभिन्नता जीवन-प्राचुर्य की द्योतक है। हमें उसका स्वागत करना चाहिए। आलोचक रसज्ञ व्याख्याता है। रस को ग्रहण करना और अपनी शक्ति एवं मेधा के अनुसार दूसरों को सुलभ करना ही उसका कर्तव्य कर्म है।"[18] शक्ति, मेधा और रस के ग्रहण की क्षमता आलोचक की विचारधारा और व्यक्तिगत रुचि-संस्कार आदि से तय होते हैं। आधुनिक युग में जबकि शिक्षा के प्रसार से अलग-अलग अस्मिताओं को सजगता से वहन करने वाले अलग-अलग स्वर साहित्य की रचना और उसकी व्याख्या में प्रवृत्त हो रहे थे, तब आलोचना केवल रस को ग्रहण करके सर्वसुलभ कराने का सरल मामला नहीं रह जाती है। जीवन-प्राचुर्य की द्योतक विभिन्नताएँ अधिकांशतः परस्पर विरोधी होती हैं, जिनमें शोषक-शोषित तक का सम्बन्ध होता है, ऐसे में आलोचना में पूर्णतः सहनशीलता की माँग आलोचना में असहनशीलता के कारणों की समझ के अभाव के कारण भी हो सकता है। लेकिन आलोचना में संवादधर्मिता आवश्यक है और इसे डॉ. नगेंद्र ने बार-बार रेखांकित किया है।

इन्हीं के समानांतर चालीस के दशक से हिंदी आलोचना में प्रगतिवादी दौर भी प्रमुखता से उभरता है। प्रगतिवादी दृष्टिकोण से आलोचना की भूमिका को परिभाषित करते हुए शिवदान सिंह चौहान लिखते हैं- "कला-समीक्षा का कार्य अब नीर-क्षीर विवेचन तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। उसे कला के मूलोद्भव की प्रक्रिया की पड़ताल करनी है, कला और जीवन के परस्पर संबंध का निर्णय करना है, उसके सौंदर्यमूल्यों का निरूपण करना है तथा कला और साहित्य—इस विषयों की ऐसी शिक्षण नीति निर्दिष्ट करनी है कि प्रत्येक विद्यार्थी के लिए उसमें व्यक्त मानव-मूल्य अनुभाव्य बन सकें जिससे प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र समाज के निर्माण संघर्ष में स्वयं को भी मुक्त कर सके अर्थात् स्वयं अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास भी कर सके।"[19] प्रगतिवादी आलोचना में कला-समीक्षा यानी आलोचना को एक साहित्यिक कार्य के बजाय सामाजिक-सांस्कृतिक कर्म माना गया जिसका उद्देश्य साहित्य के विश्लेषण-मूल्यांकन से कहीं व्यापक है। यह मानव-मुक्ति के उद्देश्य को लेकर चलने वाला कर्म माना गया। ऐसे महत् उद्देश्य के लिए केवल साहित्य का रस-ग्रहण करने की क्षमता ही अपेक्षित नहीं है। शिवदान सिंह चौहान के अनुसार आलोचना का दर्शन से गहरा जुड़ाव होना चाहिए। साथ ही, "आलोचना एक ऐसा विज्ञान बने जो अपने सजातीय अन्य विज्ञानों—आधुनिक मनोविज्ञान, सांस्कृतिक मानवशास्त्र, समाजशास्त्र और इतिहास—की उन गवेषणाओं और तथ्यनिरुपिणी सामान्य स्थापनाओं से परिचित हो जो कम-से-कम संस्कृति, साहित्य और कला के प्रश्नों से संबंध रखती हो।"[20]

हिंदी में प्रगतिवादी आलोचकों और रचनाकारों ने साहित्य की समीक्षा इन उद्देश्यों से प्रेरित होकर बहुत हद तक ऐसी तैयारी के साथ करने की कोशिश की जिसका संबंध अन्य सजातीय विज्ञानों और समसामयिक युगीन समस्याओं से रहा है। रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध, नामवर सिंह, मैनेजर पांडेय ऐसे ही समर्थ साहित्यकार-आलोचक रहे हैं।

रामविलास शर्मा ने आलोचना को सांस्कृतिक आंदोलन का अंग माना है। सांस्कृतिक आंदोलन का उद्देश्य मनुष्य-मनुष्य के बीच ऊँच-नीच की भेदमूलक अमानवीय समाज-व्यवस्था की पोषक संस्कृति के विरुद्ध एक समतामूलक संस्कृति के निर्माण का प्रयास होता है। साहित्यिक क्षेत्र इस व्यापक उद्देश्य में अपना योगदान इस तरह दे सकता है कि यह साहित्यिक-सांस्कृतिक परम्परा को नये दृष्टिकोण से देखे, उसका मूल्यांकन करे और साहित्य के इतिहास में जो स्वर भेदभाव की व्यवस्था के विरुद्ध मुखर और समता से स्वप्न से अनुप्राणित हो, उसे उभारे। इस आधार पर रामविलास शर्मा आलोचना कर्म की महत्वपूर्ण समस्या साहित्य की परम्परा के मूल्यांकन की समस्या को मानते हैं।[21] **साहित्य की परम्परा में उस भाषा के विकास की परम्परा भी शामिल होती है, रामविलास शर्मा भाषा की परम्परा को साहित्य की परम्परा से अलग करके देखने के पक्ष में नहीं हैं**। अतः सांस्कृतिक आंदोलन के अंग के रूप में आलोचना के विकास के लिए आलोचना में भाषा के विकास के अध्ययन को भी वे उतना ही महत्व देते हैं जितना साहित्य के अध्ययन को। इस प्रकार रामविलास शर्मा ने अपनी व्यावहारिक और सैद्धांतिक आलोचना से आलोचना को इसका अंतर्विषयक रूप प्रदान किया।

साठ के दशक से पश्चिम की नयी समीक्षा का प्रभाव हिंदी आलोचना पर दिखाई पड़ता है। हिंदी आलोचना में मूल्य-निर्णय के बजाय कृति का पाठ कृति की तरह करने और उसके माध्यम से देश और दुनिया में हो रहे बहुस्तरीय बदलावों का कृतिकार के मानस और उसकी कला पर जो प्रभाव पड़ रहा था, उसके विश्लेषण पर बल दिया जाने लगा। सृजनात्मक प्रक्रिया पर ही मुख्यतः विचार करने वाली पिछले दशक की समालोचना दृष्टि से आगे बढ़कर आलोचना अपनी पाठ-प्रक्रिया के प्रति सजग होने लगी। इस दौर के प्रमुख आलोचकों में से एक देवीशंकर अवस्थी ने इस स्थिति को शुभ मानते हुए लिखा-

"सौभाग्यवश पिछले तीन या चार वर्षों के अंदर एक नयी चिंतनधारा प्रकट हुई है। मूल्यांकन तथा पुनर्मूल्यांकन को लेकर एक नया स्वर सुनाई पड़ने लगा है। काव्य-मीमांसा के क्षेत्र में कविता को कविता के रूप में पढ़ने, न कि सामाजिक दस्तावेज या मनोवैज्ञानिक विषय के रूप में देखने पर जोर दिया जाने लगा है। कुछ नये लेखक एक ऐसी पद्धति और उपयुक्त शब्दावली का विकास कर रहे हैं जिससे कविताओं का सघन साहित्यिक विश्लेषण हो सके। वे मूल्य निर्णय के बजाय यह बताना ज्यादा उपयुक्त समझते हैं कि कविता में क्या घटित हो रहा है। जाँच परख और बोध के दायरे के विस्तार से यह आशा व्यक्त की जा रही है कि सामान्य रूप से अकादमिक हलकों में नयी आलोचनात्मक संवेदनशीलता का विकास होगा।"[22] पाठ को निमित्त मानने वाली प्रगतिवादी हिंदी आलोचना तथा सामाजिक-नैतिकतावादी आलोचना और कवि-आलोचकों की स्वयं की सृजन-प्रक्रिया से जुड़ी आलोचना से आगे बढ़कर पश्चिम की नयी समीक्षा की तर्ज पर हिंदी आलोचना में 'कविता को कविता की तरह पढ़ने, न कि सामाजिक दस्तावेज या मनोवैज्ञानिक विषय के रूप में' की प्रवृत्ति आई। आलोचक से माँग की गई कि उसमें साहित्यिक मूल्यों के प्रति गहरा लगाव हो; साहित्यिक समझ हो; वह साम्प्रतिक बोध से युक्त हो यानी समसामयिक संदर्भों से कटा न हो; उसे पुनरुत्थानवाद और चर्वित चर्वणावादी पांडित्य में विश्वास नहीं रखना चाहिए।

देश की आज़ादी देश के इतिहास के साथ हिंदी साहित्य में भी एक बड़ा विभेदक दौर है। हिंदी के रचनात्मक साहित्य की तरह आलोचना-दृष्टि में भी अंतर दृष्टिगोचर होता है। डॉ. गोपाल प्रधान के अनुसार, "आज़ादी के बाद के वर्षों में हमारा ऐसा नज़रिया विकसित हुआ है जिसके अनुसार हम चीजों को उनकी समग्रता में न देखकर 'अध्यापकीय' आदत के मुताबिक खंडों में बाँट कर देखने लगे हैं। यह समय. समाज व व्यवस्था को

समग्रता में समझकर उसका मूल्यांकन करने तथा समाज को सही दिशा देने में बाधक बनता है।...ज्ञान की इस आदिम एकता को नजरअंदाज करने से एकायामी नजरिया पैदा होता है।[23] शीतयुद्ध के दौरान प्रबल हुई अमेरिकी नयी समीक्षा के प्रभाव में हिंदी आलोचना में कृति के संदर्भरहित 'क्लोज रीडिंग' की तरफ झुकाव और साहित्य की स्वायत्तता के नाम पर साहित्य के अध्ययन की राजनीतिक या सामाजिक या सांस्कृतिक दृष्टि को साहित्येतर कर्म माना जाने लगा। हिंदी आलोचना की आरम्भिक स्थिति से स्वातंत्र्योत्तर आलोचना-परिवेश की तुलना करते हुए डॉ. प्रधान ने लिखा है- "हिंदी के शुरूआती आलोचकों के चिंतन में समग्रता है।...दरअसल आज़ादी की लड़ाई ने तब के आलोचकों के सामने एक बड़ा फलक खोला था।...दुर्भाग्यवश आज़ादी के बाद की निश्चिंतता ने एक तरह के एकांगी नज़रिए को जन्म दिया जिसमें आर्थिक मामले सरकारी अर्थशास्त्रियों के हवाले रहे, राजनीति की उलझनों को नेताओं के भरोसे छोड़ दिया गया और आलोचकों के जिम्मे सिर्फ साहित्य की दुनिया आई।...इस विरासत ने ही वह तंगनजरी पैदा की जिसमें हम किसी पुस्तक को शोध या समाजशास्त्रीय काम कह कर उसे आलोचना की दुनिया से बाहर रखने की कोशिश की है।"[24] आज़ादी के बाद की निश्चिंतता रही हो या पूँजीवादी भूमंडलीकरण में मानव-समाज और मानवीय-व्यापारों का लगातार बढ़ता दायरा हो या ज्ञानानुशासनों की बढ़ती विशेषज्ञता, इसने पूरे परिदृश्य को इस कदर बहुस्तरीय और व्यापक बनाया कि चिंतन में समग्रता मुश्किल होती गई। पर हिंदी आलोचना में नामवर सिंह के बाद डॉ. मैनेजर पांडेय ने हिंदी आलोचना को समकालीन विभिन्न ज्ञानानुशासनों से जोड़कर साहित्य का विश्लेषण-मूल्यांकन संश्लिष्ट दृष्टि से करने की राह दिखाई।

हिंदी आलोचकों में मैनेजर पांडेय एक ऐसे आलोचक हैं जिन्होंने आलोचना विधा की आलोचना प्रमुखता से की है, तथा आलोचना पर सैद्धांतिक चिंतन किया है। आचार्य

शुक्ल के लिए आलोचना जहाँ विचारात्मक कर्म है, वहीं मैनेजर पांडेय के लिए यह विचारधारात्मक गतिविधि है। वे लिखते हैं- "आलोचना, रचना में व्यक्त और अव्यक्त मूल्यों तथा विश्वासों की व्याख्या करती है, साथ ही वह सामाजिक जीवन में मौजूद और रचना में व्यक्त शक्ति-संबंधों की भी पहचान करती है। इस तरह आलोचना एक विचारधारात्मक गतिविधि होती है।"[25]

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि आलोचना के मानदंड शाश्वत या एकांत नहीं होते, क्योंकि हर युग अपने समस्त बौद्धिक-सांस्कृतिक विकास के अनुसार आलोचना की अपनी अवधारणा निर्मित करता है। इसके कारण आलोचना के उद्देश्य और कार्य-प्रणाली युगानुरूप नये रूप लेते हैं और इसके मानदंड भी।

पाश्चात्य अवधारणा: पश्चिम में आलोचना-कर्म के आरम्भ का परिवेश यूनान में छठवीं से पाँचवी शताब्दी ईसा पूर्व से निर्मित होता हुआ माना जाता है। एंड्रिया नाइटेंगल के अनुसार साहित्यिक विधा के रूप में आलोचना का विकास तभी संभव हो पाता है जब साहित्य केवल मौखिक न रहकर लिखित रूप में संकलित होने लगता है।[26] छठवी-पाँचवी शताब्दी ईसवी पूर्व से ग्रीक भाषा में साहित्य लिपिबद्ध होने लगा, साक्षरता का धीरे-धीरे प्रसार हुआ। इसके बाद चौथी शताब्दी ईसा पूर्व से साहित्य जगत् में Kritai नामक साहित्यिक प्राणी के दर्शन होने लगते हैं। ये Kritai यानी निर्णायक (जज) कुलीन, संस्कृत व्यक्ति होते थे जो दृश्य-श्रव्य काव्यों को कलात्मक, विचारधारात्मक, सामाजिक आधारों पर परखते थे। इनके द्वारा ही साहित्यिक कृतियों में अच्छी-बुरी रचना का भेद करने, काव्य की प्रकृति पर दार्शनिक चिंतन करने और मानवीय कार्य-व्यापारों में उनका मूल्य तय करने की परम्परा यानी आलोचना की परम्परा का सूत्रपात हुआ।

चौथी शताब्दी ईसा पूर्व से पाश्चात्य साहित्यिक आलोचना ने जिन सवालों के साथ अपना विकास किया वे काव्य-सत्य और बाह्य जगत से यथार्थ के सम्बन्धों की पड़ताल से लेकर कृति के आस्वाद में दर्शक या पाठक की भूमिका, दर्शक या पाठक के मानस को प्रभावित करने की कृति की क्षमता, उत्कृष्ट-निकृष्ट काव्य के निर्धारण के मानदंडों की प्रकृति पर चिंतन, साहित्यिक केनन के निर्माण की प्रक्रिया पर चिंतन, साहित्यिक कृति के विश्लेषण में तकनीकी सौंदर्यशास्त्रीय कसौटियों तथा सामाजिक-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य के बीच चुनाव के द्वंद्व से सम्बन्धित थे। आज भी ये सवाल साहित्यिक सिद्धांतों और व्यावहारिक आलोचना में प्रमुख स्थान रखते हैं।

इस प्रश्नों पर सैद्धांतिक चिंतन के व्यवस्थित प्रयास प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक **प्लेटो** (427-347 ई.पू.) के यहाँ पहली बार मिलते हैं। प्लेटो ने साहित्य पर विचार करते हुए ग्रीक साहित्यिक परम्परा की महान कृतियों पर विचार किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि साहित्यिक कृतियों में संसार-विषयक किसी न किसी प्रकार का दृष्टिकोण होता है और इससे निर्मित एक मूल्य-व्यवस्था भी होती है जो पाठक या दर्शक को प्रभावित करती है। साहित्यिक कृतियों में व्यक्ति यानी पात्रों को नैतिक-अनैतिक, अच्छे-बुरे, साहसी-कायर, बुद्धिमान-मूर्ख आदि कोटियों में बाँट कर दिखाया जाता है और इस तरह मानव-स्वभाव के बारे में एक सार्वभौम धारणा का निर्माण कृतियों के द्वारा होता है। प्राचीन ग्रीक साहित्य महाकाव्यों के रूप में था और जनसमूह के बीच उनका व्यापक प्रचार था। इस तरह जनमानस में जीवन-मूल्यों के निर्माण की उनकी क्षमता को प्लेटो ने समझा और साहित्यकारों के महत्व को परखने का मानदंड उसने सामाजिक-राजनीतिक-नैतिक आधारों पर तय किया। हालांकि प्लेटो साहित्यकार को इतना ज्ञानसम्पन्न नहीं मानते कि उन्हें सामाजिक मूल्य-व्यवस्था के निर्माण का अधिकारी समझें। प्लेटो का मानना था कि

कल्पनात्मक साहित्य को हमेशा अच्छाई की जीत, नैतिक व्यक्तियों का उत्कर्ष दिखाना चाहिए जिससे जनसमूह में अच्छे गुणों के प्रति आग्रह बढ़े। इसके विपरीत उनके दृष्टिकोण से ग्रीक त्रासदी के कवि अपने अज्ञान के कारण अच्छे व्यक्तियों का कष्टकारी अंत दिखाकर समाज में नकारात्मक मूल्यों को फैला रहे थे। अतः इन आधारों पर उन्होंने आदर्श राज्य से कवि को बहिष्कृत कर देने की सलाह दी।

ग्रीक आलोचना में प्लेटो ने नैतिक-सामाजिक आधार पर आदर्शवादी आलोचना का सूत्रपात किया। इस प्रकार की आलोचना दृष्टि का चरम मूल्यांकन यह निकला कि एक आदर्श समाज में कवि का स्थान ही नहीं होना चाहिए, तब इसका विरोधी दृष्टिकोण लेकर प्लेटो के शिष्य **अरस्तु** (384-322 ई.पू.) साहित्य-चिंतन के क्षेत्र में दाखिल हुए। अरस्तु ने साहित्य-सिद्धांत के अपने महत्वपूर्ण ग्रंथ 'पोएटिक्स' में यह विचार प्रस्तुत किया कि साहित्य में अच्छे-बुरे या सही-गलत का प्रश्न ठीक वही नहीं होता जो राजनीति में होता है। अरस्तु ने साहित्य को इतिहास और राजनीति से अलग और स्वायत्त वस्तु घोषित किया और ऐसा करने के क्रम में उन्होंने एक ऐसा शक्तिशाली सिद्धांत दिया जिसका प्रभाव आधुनिक आलोचना पर भी है। उन्होंने कहा कि साहित्य का मूल्यांकन नैतिक या राजनीतिक मानदंडों पर नहीं होना चाहिए; साहित्य का अपना संसार होता है जहाँ साहित्य के अच्छे या बुरे होने के निर्धारण का मानदंड साहित्य के तकनीकी और रूपगत आधारों पर ही हो सकता है, अन्य आधार पर नहीं। अरस्तु ने प्रतिपादित किया कि साहित्य की अपनी सौंदर्यशास्त्रीय दुनिया है जिसके अपने नियम और मानक हैं। इस तरह अरस्तु ने पाश्चात्य आलोचना को उसका रूपवादी और शास्त्रीय आधार दिया। डॉ. निर्मला जैन के अनुसार, "अरस्तु के विवेचन के जिस पक्ष ने उन्हें प्लेटो से अलग और आगे खड़ा किया और आभिजात्यवादी विचारधारा के पुरोधा के रूप में प्रतिष्ठित किया, वह था काव्य पर,

और मुख्य रूप से त्रासदी पर विस्तृत विचार-विमर्श। इस क्रम में उन्होंने इस विधा के नियमों को रेखांकित करते हुए उनके पालन पर जो बल दिया उससे आगे आने वाले समय में शास्त्रीय नियमबद्धता, रूप की स्थिरता तथा अनुशासन को अनिवार्य मानने की शास्त्रवादी प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला।"[27]

इस तरह ईसा की पहली शताब्दी शुरु होने से पहले ही आलोचना की नैतिक आदर्शवादी और रूपवादी धाराओं का सूत्रपात पाश्चात्य साहित्य जगत् में हो जाता है। ईसा की पहली शताब्दी में 'आर्स पोएटिका' के रचयिता रोमन कवि होरेस और उनके बाद 'पेरिइप्सुस' के रचयिता ग्रीक लेखक लोंगिनुस या लोंजाइनस साहित्यालोचन के क्षेत्र में दिखाई पड़ते हैं। अरस्तु से होरेस के बीच लगभग तीन शताब्दियों के अंतर के बीच साहित्य में महाकाव्य और नाटक के अलावा भी कई विधाओं का समावेश हो चुका था, जिनका नियमन करने का महत्वपूर्ण काम होरेस ने किया। काव्यालोचन में भाषा-संबंधी मानकों को इन्होंने प्रमुखता दी और आलोचना में कृति की भाषा की पात्रानुकूलता और प्रसंगानुकूलता को परखने पर भी बल दिया। लोंगिनुस का समयकाल ईसा की पहली से तीसरी शताब्दी के बीच माना जाता है पर इनकी कृति पाश्चात्य साहित्य जगत में सोलहवीं शताब्दी में प्रकाशित हुई। तब से लेकर नयी समीक्षा तक इनके सिद्धांतों की प्रासंगिकता निर्विवाद है। **शास्त्रवादी आलोचकों के विपरीत लोंगिनुस ने काव्य में वागाडम्बर-भावाडम्बर और अतिशय चमत्कारप्रियता के स्थान पर काव्य के उदात्त तत्त्व के रूप में गरिमामय भावों की उनके अनुकूल गरिमामय भाषा को प्रतिष्ठित किया।** रूप के चमत्कार की जगह विचार के औदात्य को प्रमुखता देकर लोंगिनुस ने आलोचना को साहित्य की सच्ची परख के अधिक योग्य बनाया।

इसके बाद लगभग पंद्रह सौ वर्षों तक पाश्चात्य आलोचना के क्षेत्र में कोई मौलिक वैचारिक उद्भावना के दर्शन नहीं होते। सत्रहवीं शताब्दी में अंग्रेज कवि और नाटककार जॉन ड्राइडन के रूप में आधुनिक अंग्रेजी गद्य और आलोचना का जनक मिला। पाश्चात्य साहित्यिक आलोचना को रेनेसाँ की रचनात्मक ऊर्जा से जोड़ने में इनका महत्वपूर्ण योगदान है।[28] पुरानी शास्त्रवादी साहित्य-दृष्टि और स्वच्छंदतावादी साहित्य-दृष्टि के बीच ड्राइडन की आलोचना एक कड़ी है जिसने शास्त्रीय का आधार रखते हुए भी युगानुरूप नवीन साहित्य-दृष्टि का पक्ष लिया। रामचंद्र तिवारी के अनुसार- "ड्राइडन ने सिद्धांत-कथन से आगे बढ़कर कृतियों के विश्लेषण और गुणात्मक महत्व के प्रतिपादन पर बल दिया। उसने अंग्रेजी साहित्य की निजी पहचान को रेखांकित किया। उसने सबसे पहले ऐतिहासिक आलोचना की शुरूआत की। उसने दृढ़ता के साथ यह प्रतिपादित किया कि साहित्य गत्यात्मक होता है इसलिए साहित्य-सिद्धांत भी गत्यात्मक और विकसनशील होने चाहिए।"[29] इस तरह ड्राइडन का योगदान आलोचना को जड़ शास्त्रवाद से मुक्त कराने की दिशा में महत्वपूर्ण है।

आलोचना विधा के स्वरूप और आलोचक के गुणों पर विचार करने वाले पाश्चात्य समीक्षक सत्रहवीं शताब्दी के नवशास्त्रवादी अलेक्ज़ेंडर पोप हैं। पोप ने आलोचक का काम साहित्य के मर्म को पाठक तक रचना से भी अधिक प्रभावशाली और रुचिकर ढंग से पहुँचाने का माना। उन्होंने अच्छे आलोचक में ज्ञान, विवेक, विनम्रता, निष्पक्षता, विश्लेषण क्षमता, विशद् अध्ययन तथा इन सबसे बढ़कर कटु सत्य कहने का साहस होना अनिवार्य माना है।[30] हिंदी के आरम्भिक आधुनिक आलोचकों की आलोचना-संबंधी समझ पर पोप का बहुत प्रभाव है।

पाश्चात्य आलोचना जगत् में पुराने शास्त्रों की रुढ़ियों के बदले नये प्रयोगों की स्वीकार्यता का स्वर धीरे-धीरे उठने के परिवेश ने उस उत्प्रेरक का काम किया जिसमें अठारहवीं सदी के स्वच्छंदतावादी कवि-चिंतकों ने अपने साहित्य-सिद्धांत प्रस्तुत किए। विलियम वर्ड्सवर्थ और सैमुअल टेलर कॉलरिज इनमें प्रमुख हैं। वर्ड्सवर्थ मूलतः कवि थे और आपद्धर्म की तरह उन्हें कविता के लिए सिद्धांत निर्माण के आलोचकीय कर्म की ओर बढना पड़ा। उनके समय का साहित्यिक परिवेश ऐसा था कि नयी रचनाशीलता की ग्राह्यता मुश्किल थी। उन्होंने महसूस किया कि कवि या लेखक को एक ऐसे आस्वाद के निर्माण की जिम्मेदारी उठानी होगी जिससे उसकी रचना का आनंद लिया जा सके- "every author as far as he is great and at the same time original, has had the task of creating the taste by which he is to be enjoyed".[31] आस्वाद के निर्माण का काम कवि या लेखक स्वयं आलोचक बन कर ही कर सकता है। अतः वर्डवर्थ ने कविता की परिभाषा, काव्य-भाषा का सिद्धांत, काव्य-प्रयोजन आदि पर विचार किया और काव्य के बाहरी रूपरंग के बजाय उसमें आत्मा की अंतःस्फूर्ति की प्रेरणा को मुख्य माना। काव्य के आस्वाद-निर्माण की जिम्मेदारी वर्ड्सवर्थ की तरह हिंदी के छायावादी कवियों ने भी अपने आलोचना-कर्म के माध्यम से उठाई। कविता की नयी प्रवृत्ति के आस्वाद निर्माण के लिए पाठक के सामने नये कवि की सृजन-प्रक्रिया को भी स्पष्ट करना आवश्यक होता है। सैमुअल टेलर कॉलरिज ने इस दिशा में महत्वपूर्ण काम किया और आलोचना में सृजन-प्रक्रिया पर चिंतन की आधुनिक परम्परा चलाई।

उन्नींसवी सदी के प्रमुख आलोचकों में मैथ्यू आर्नल्ड प्रमुख हैं। स्वच्छंदतावादी कवियों की व्यापक प्रसिद्धि के बाद भी यूरोप के मुख्य ज्ञान और कला केंद्रों से श्रेष्ठता के मामले में पीछे माने वाले इंग्लैंड में आलोचक के रूप में मैथ्यू आर्नल्ड का आविर्भाव एक

महत्वपूर्ण घटना है। अपने देशी साहित्य को विश्व के श्रेष्ठ साहित्य के समकक्ष लाने की भावना को लेकर मैथ्यू आर्नल्ड ने अपना आलोचना-कर्म शुरू किया और इस कारण आलोचना को ऐसा अनासक्त काम माना जो संसार में मौजूद सभी बेहतरीन ज्ञान को सीखे और फैलाए, जिससे स्वच्छ और सच्चे विचारों की धारा प्रवाहित हो (a disinterested endeavour to learn and propagate the best that is known and thought in the world and thus to establish a current of fresh and true ideas) ।[32] आलोचना को ज्ञान और विचारों के क्षेत्र में जागरण लाने का काम मानने के कारण ही मैथ्यू आर्नल्ड ने इसे केवल साहित्य तक सीमित नहीं माना बल्कि धर्मशास्त्र, इतिहास, कला, विज्ञान, समाजशास्त्र, राजनीति और जीवन के अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्रों को भी इसके केंद्र में रखा। यही कारण है कि आर्नल्ड 'कल्चरल क्रिटिक' कहे जाते हैं। आर्नल्ड उस दौर में आलोचना के महत्व को स्थापित कर रहे थे जब माना जाता था कि साहित्य में काव्य आदि रचनात्मक कर्म का पद आलोचना से कहीं ज्यादा है। उन्होंने आलोचना को रचनात्मक कर्म से कम महत्व का न मानते हुए कहा कि आलोचना ही रचनात्मकता को उसका श्रेष्ठ दे सकने का परिवेश प्रदान करती है।

बीसवीं शताब्दी में आलोचना के कुछ प्रमुख सम्प्रदाय सामने आए जिनमें रूसी रूपवादी, आंग्ल-अमेरिकी नयी समीक्षा तथा मार्क्सवादी आलोचना के सम्प्रदाय प्रमुख हैं। इस सभी सम्प्रदायों के आपसी टकरावों व समन्वय से इस सदी की आलोचना का वैविध्यपूर्ण तथा संवेदनशील रूप तैयार हुआ है।

आंग्ल-अमेरिकी नयी समीक्षा परम्परा की बहुत-सी प्रवृत्तियाँ टी.एस. इलियट के आलोचनात्मक लेखों और साहित्य-संबंधी मान्यताओं से निकली हैं। उनका प्रारम्भिक बहुप्रसिद्ध लेख 'ट्रेडिशन एंड इंडिविजुअल टैलेंट' (1919) इस सदी का सबसे प्रभावशाली

माना जाता है।[33] इलियट ने आलोचना को कुछ महत्वपूर्ण अवधारणाएँ और पदबंध दिए जिनमें 'डीपरसनलाइजेशन' 'द हिस्टोरिकल सेंस', और 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' इलियट के बाद की आलोचक पीढ़ी के बीज शब्द की तरह स्थापित हुए। जिस प्रकार इलियट ने कविता को कवि की वैयक्तिकता से मुक्त निर्वैयक्तिक रचना के रूप में ग्रहण करने की बात कही. उसी तरह आलोचक से भी निर्वैयक्तिक दृष्टि की माँग करते हुए उन्होंने कहा- "साहित्य के आलोचक के मन में कलाकृति के द्वारा सम्प्रेरित संवेगों के अलावा किसी और संवेग की उपस्थिति नहीं होनी चाहिए।"[34] काव्य-रचना के साथ ही काव्य के आस्वाद और आलोचना के लिए इलियट ने आलोचक के व्यक्तिगत सभी भावों का निग्रह आवश्यक माना है। हालांकि इलियट समय के साथ इस बात का अनुभव करने लगे थे कि व्यक्तित्व का निग्रह न कवि के लिए संभव है न आलोचक के लिए। अतः लेखन के प्रतिमानों में व्यक्तिगत रुचि-अरुचि को नियामक न मानते हुए, रचना में परम्परा-प्रदत्त शाश्वत रूपों की प्रमुखता मानते हुए भी इलियट ने माना कि रचना और आलोचना की दृष्टि देश-काल और व्यक्तित्व की सीमा से बँधी होती है जो सीमाएँ इतिहास के परिप्रेक्ष्य में उद्घाटित होती हैं।[35]

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद, जब टी.एस. इलियट अपनी साहित्यिक मान्यताओं को गढ़ रहे थे, तब पाश्चात्य उच्च शिक्षा केंद्रों के कला संकाय में अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य प्रमुख अनुशासन के रूप में उभर रहा था तथा उसके साथ ही अकादमिकों की नयी पीढ़ी उभर रही थी जिसने पाश्चात्य आलोचना के तब तक के ढर्रे को बहुत कुछ बदल दिया। 'प्रोफेशनल' आलोचना को जन्म देने वाली यह पहली पीढ़ी थी। इलियट की मान्यताओं से यह पीढ़ी बहुत प्रभावित थी। उनके अलावा इस दौर की नयी आलोचना के प्रतिपादकों में आई.ए.रीचर्ड्स, विलियम एम्पसन और इनके कनिष्ठ समकालीन एफ.आर. लीविस सर्वप्रमुख हैं। आई.ए. रीचर्ड्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटररी

क्रिटिसिज्म' (1924) में आलोचना कर्म पर विचार करते हुए कहा है कि आलोचना को विज्ञान के समान वस्तुनिष्ठता रखनी चाहिए। साहित्य रचना के लिए भाषा के भावात्मक (emotive) तथा रचना से इतर विमर्श या आलोचना के लिए भाषा के संकेतात्मक (referential) प्रयोग का सिद्धांत दिया। इनकी एक अन्य प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' (1929) का प्रभाव इंग्लैंड तथा अमेरिका के उच्च शिक्षण संस्थानों में साहित्य शिक्षा पर सर्वाधिक पड़ा। यह प्रभाव इतना व्यापक पड़ा कि उच्च तथा माध्यमिक स्तर की अंग्रेजी साहित्य शिक्षा में रिचर्ड्स की आलोचना-पद्धति मूलभूत शैक्षणिक पद्धति बन गई। इस पद्धति की विशेषता है पाठ की सचेत 'क्लोज रीडिंग'; जहाँ सारे पाठ अपनी ऐतिहासिक स्थिति से स्वतंत्र रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं; इस प्रकार की रीडिंग से कक्षा में एक तरह के लोकतंत्र का निर्माण होता है जिसमें पाठ की सारी रीडिंग्स समान स्तर पर स्वीकृत होती हैं। आगे चल कर पाठ की यह प्रवृत्ति 'न्यू क्रिटिसिज्म' की महत्वपूर्ण प्रविधि बनती है। रीचर्ड्स की आलोचना तथा भाषा विषयक मान्यताओं को हिंदी आलोचना के क्षेत्र में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने बहुत महत्व दिया है।

रीचर्ड्स के योग्य शिष्य तथा बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के महत्वपूर्ण आलोचक विलियम एम्पसन ने अपनी आरम्भिक पुस्तक 'सेवेन टाइप्स ऑफ एम्बिग्वियुटी' (1930) के द्वारा आलोचना के क्षेत्र में रचना की 'क्लोज रीडिंग' के व्यावहारिक तरीके ईजाद किए। एम्पसन ने 'एम्बिग्वियुटी' यानी अनेकार्थकताजन्य अस्पष्टता को काव्यभाषा की मूल प्रकृति या विशिष्ट स्वभाव माना। काव्यभाषा के माध्यम से साहित्यिक कृति की 'क्लोज रीडिंग' करने तथा इस प्रक्रिया में उसके सामाजिक-ऐतिसाहिक-सांस्कृतिक संदर्भों को स्थगित करने की प्रवृत्ति आगे चलकर 'न्यू क्रिटिसिज्म' में प्रबल हुई। आलोचक में भाषा की प्रवृत्ति की समझ को आलोचना कर्म के लिए उन्होंने आवश्यक माना है।[36] लेकिन

एम्पसन को पूर्णतः 'न्यू क्रिटिक' नहीं कहा जा सकता क्योंकि साहित्यिक कृति के सम्पूर्ण मूल्यांकन में वे केवल पाठ ही नहीं, अन्य संदर्भों पर भी ध्यान देते थे।

इलियट और रीचर्ड्स के समानांतर रूस में रूपवादियों का दल साहित्य के विश्लेषण की वैज्ञानिक विधि का ईजाद कर रहा था। 1917 की रूसी क्रांति से दो-एक वर्ष पहले रूस में साहित्य का रूपवादी अध्ययन 'मास्को लिंग्विस्टिक सर्कल' (1915) तथा 'द सोसाइटी फॉर द स्टडी ऑफ पोएटिक लैंग्वेज' (1916) शुरू हो चुका था। 'मास्को लिंग्विस्टिक सर्कल' के संस्थापकों में प्रसिद्ध भाषाविद् तथा साहित्य चिंतक रोमन जैकोब्सन शामिल थे जिन्होंने 1926 में 'प्राग लिंग्विस्टिक सर्कल' की भी स्थापना की। रूसी रूपवाद के प्रमुख हस्ताक्षर विक्टर श्लोव्स्की 'द सोसाइटी फॉर द स्टडी ऑफ पोएटिक लैंग्वेज' से जुड़े थे। रूपवादी आलोचना साहित्य के उन नियमों और पद्धतियों के विश्लेषण करने और उन्हें सूत्रबद्ध करने की आग्रही थी जिससे साहित्य को उसका विशिष्ट रूप प्राप्त होता था। श्लोव्स्की ने प्रसिद्ध निबंध 'आर्ट ऐज टेक्नीक' में 'डिफैमिलियराइजेशन' (विसामान्यीकरण) का सिद्धांत प्रस्तुत किया। श्लोव्स्की के अनुसार लेखक या कलाकार अपनी कला द्वारा विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने के लिए परिचित (और इसी कारण नीरस या चमत्कारहीन हो चुके) वस्तु या परिवेश को ऐसे प्रस्तुत करता है कि वह हमें अजनबी या असामान्य लगती है।[37] अन्य रूपवादियों में जैकोब्सन ने साहित्य को भाषा का विशिष्ट प्रयोग माना तथा आलोचना का काम उन नियमों की खोज माना जिससे भाषा का एक प्रयोग आम बातचीत होता है और अन्य प्रयोग साहित्य जैसा कलात्मक विशिष्ट रूप।[38] इस तरह रूपवादी आलोचना का सारा ध्यान कृति को भाषिक प्रयोग के ढंग विशेष के रूप में देखने और भाषा का अध्ययन-विश्लेषण करने पर रहा। हिंदी के प्रमुख मार्क्सवादी आलोचकों ने आलोचना की रूपवादी दृष्टि को साहित्य के लिए सकारात्मक नहीं माना है।

परंतु रूपवाद की उपल्ब्धयाँ बताते हुए गोपीचंद नारंग लिखते हैं- "रूपवादियों की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उन्होंने 'साहित्य' शब्द' पर ऐसी एक्सरई दृष्टि डाली तथा उसकी ऐसी वस्तुनिष्ठ परिभाषा निर्धारित करने की चेष्टा की, जो स्वयं उसकी प्रकृति से संयोजित हो। साहित्य को एक विशेष मनसब प्रदान करके उन्होंने साहित्यालोचन के लिए सुस्पष्ट सैद्धांतिक आधार प्राप्त किए और अत्यंत सहानुभूतिपूर्वक उसे दार्शनिक रूप से सूत्रबद्ध किया। यद्यपि मूलतः यह एक सौंदर्यपरक खोज थी, किंतु यह प्रभाववादी अथवा व्यक्तिपरक सौंदर्यपरक नहीं था, बल्कि वैज्ञानिक सौंदर्यशास्त्र था। उसने किसी सौंदर्यपरक प्रत्यय या संकल्पना की अवधारणा पर टेक नहीं लगाई अर्थात् रहस्यमय या अभौतिक स्रोत का सहारा लेकर अपने काम को आसान नहीं किया, बल्कि साहित्य के ठोस उदाहरण को सामने रखकर विश्लेषणात्मक रूप से उससे वे विधियाँ या सिद्धांत अर्जित किए, जिनसे साहित्य की साहित्यिकता एवं काव्यत्व स्थापित होता है।"[39]

बीसवीं सदी के आरम्भिक दौर की आलोचना की इस पृष्ठभूमि पर अमेरिकी नयी समीक्षा का विकास हुआ जो द्वितीय विश्वयुद्ध और उसके बाद उत्पन्न हुए शीतयुद्ध काल में अपने प्रभाव के चरम पर थी। यह आलोचना की वह दृष्टि है जो रचना के पाठ (टेक्स्ट) के अलावा इसके ऐतिहासिक, लेखकीय जीवनीपरक, बौद्धिक परिवेश से संबंधी किसी भी संदर्भ से सम्पृक्ति नहीं रखती; टेक्स्ट और उसकी भाषा तथा विन्यास ही इस आलोचना का एकमात्र विषय होते हैं। टेक्स्ट के हिस्से आपस में कैसे एक-दूसरे से जुड़ते हैं, कैसे इसमें 'क्रमबद्धता' (ऑर्डर) और 'सामंजस्य' (हार्मनी) उत्पन्न होते हैं, किस तरह पाठ मे मौजूद विडम्बना (आयरनी) तथा विरोधाभास (पैराडॉक्स) का समाधान किया जाता है—जैसे सवालों को लेकर यह आलोचना कृति में प्रवेश करती है।[40] टेक्स्ट के 'अर्थ' की व्याख्या या तलाश यह आलोचना नही करती, बल्कि टेक्स्ट स्वयं कैसे बोलता है ('a poem must

not mean/ But be'- Archibald Macleish)[42], इसका अध्ययन किया जाता है। नयी समीक्षा किसी तरह के सिद्धांत से इतर आलोचना का शुद्ध व्यावहारिक रूप है, जिसकी पद्धति इसके व्यावहारिक प्रयोग के बीच से विकसित हुई है। 'द न्यू क्रिटिसिज्म' पुस्तक के लेखक जॉन क्रो रैनसम, 'अंडरस्टैंडिंग पोएट्री' और 'अंडरस्टैंडिंग फिक्शन' के लेखकद्वय रॉबर्ट पेन वारेन, क्लींथ ब्रुक्स आदि नयी समीक्षा के पुरोधा रहे हैं।

नयी समीक्षा के पाठवादी आलोचना के सामानांतर एफ.आर. लीविस ने मैथ्यू आर्नल्ड की तर्ज पर चलते हुए साहित्यालोचन में नैतिक मूल्यों की स्थापना का पक्ष लिया। लीविस की मान्यता थी कि साहित्य को जीवन की आलोचना से सम्बद्ध होना चाहिए और इसी कारण आलोचक का यह कर्तव्य बनता है कि साहित्यिक रचनाओं का मूल्यांकन रचनाकार और समाज की नैतिकता के आधार पर करे।[43] पाश्चात्य आलोचना में लीविस के महत्व पर नामवर सिंह ने लिखा है- "जिस समय आई.ए. रीचर्ड्स के प्रक्टिकल क्रिटिसिज्म का बोलबाला था और काव्य-कृतियों के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विश्लेषण को ही आलोचना की चरम उपलब्धि समझा जाता था, लीविस ने साहस के साथ अपने को उस प्रवाह से अलग किया। उन्होंने साहित्यिक आलोचना के विशिष्ट अनुशासन का आग्रह रखते हुए भी स्पष्ट किया कि साहित्य में गम्भीर दिलचस्पी व्यावहारिक आलोचना के नाम से प्रचलित 'पृष्ठांकित शब्दों और बिम्बों के सूक्ष्म परीक्षण कार्य तक ही अपनेआप को सीमित नहीं रख सकती; सच्ची साहित्यिक दिलचस्पी का मतलब है मनुष्य में, समाज में और सभ्यता में दिलचस्पी- यहाँ तक की इसकी कोई चौहद्दी नहीं बाँधी जा सकती।"[44]

बीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध बीतते-बीतते साहित्य के अध्ययन की एक दृष्टि साहित्य के विशिष्ट क्षेत्र तक सीमित न रहकर मानव विज्ञान तथा समाज विज्ञान से जुड़कर अंतर-अनुशासनात्मक रूप लेने लगती है। साहित्य के अध्ययन को वैज्ञानिक रूप देने की कोशिशें

होती हैं और इस कोशिश में संरचनावादी दृष्टिकोण का उदय आलोचना के क्षेत्र में होता है। मानव विज्ञानी क्लॉड लेवी-स्ट्रॉस, दार्शनिक मिशेल फूको और लुई अल्थूसर, मनोविश्लेषक जैक्स लकाँ और साहित्यिक आलोचकों रोलाँ बार्थ, त्ज़्वेतन तोदोरोव, जेरार्ड जेनेट आदि के चिंतन-कर्म के भीतर से संरचनावाद का विकास हुआ । भाषावैज्ञानिक फर्डिनांड दी सस्यूर के भाषाचिंतन से अवधारणाओं को लेकर संरचनावदियों ने भाषा-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था के बीच संरचना की समानता देखते हुए निष्कर्ष निकाले ।[45] रूपवाद की तरह ही संरचनावाद में भाषिकी के सिद्धांतों का प्रयोग साहित्य के अध्ययन में प्रमुखता से किया जाता है । परंतु रूपवाद से भिन्न संरचनावाद में साहित्य को संकेतकों की एक व्यवस्था के रूप मे पढ़ा जाता है जो अपने से बड़ी किसी व्यवस्था के रूप में काम करता है और जिसका अर्थ संकेतकों और वृहत्तर व्यवस्था के संदर्भ में प्राप्त होता है ।[46] स्पष्ट है कि संरचनावादी आलोचना का जोर साहित्य के मूल्यांकन से अधिक उसकी संरचना के पाठ पर है । साहित्य के अध्ययन को वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता देने के दावे के विरुद्ध 1960 के बाद से उत्तर-संरचनावादी या विखंडनवादी दृष्टिकोण का विकास पाश्चात्य साहित्यिक-अकादमिक जगत में होता है। उत्तर-संरचनावादियों ने भी आलोचना को पाठ के अध्ययन का तरीका ही माना है, उसके मूल्यांकन की पद्धति नहीं ।[47]

इस तरह से पाश्चात्य साहित्य वाङ्मय में आलोचना साहित्य के प्रभाव की नैतिकता-अनैतिकता का परीक्षण करने वाला कर्म होने से लेकर साहित्य के पाठ की भिन्न-भिन्न दृष्टियों का समुच्च्य तक है । ज्ञान के क्षेत्र में होने वाले परिवर्तनों ने साहित्य और साहित्य की आलोचना के स्वरूप को, उनकी अवधारणा को इतिहास के निर्णायक युगों में नए सिरे से परिभाषित किया है । पाश्चात्य देशों में औद्योगिक क्रांति के साथ लगातार तेज हुई वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने वस्तुओं के साथ विचारधाराओं को भी समाज-विशेष की परिधि

से बाहर निकालकर विश्व की साझी सम्पत्ति बनाया है, और इस प्रक्रिया में उन विचारधाराओं और दृष्टियों को अधिकाधिक वस्तुनिष्ठ और सार्वभौमिक भी बनाया है। हिंदी और प्रमुख भारतीय भाषाओं की आलोचना-दृष्टि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से पाश्चात्य थ्योरी का प्रभाव उस थ्योरी की वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता के कारण भी है।

2.2 आलोचना और सिद्धांत का अंतर्संबंध

साहित्य रचना के अलावा साहित्य पर चिंतन-मनन का काम आमतौर पर आलोचना के अंतर्गत माना जाता है। पर साहित्य पर चिंतन मनन का यह काम तीन तरह का होता है। एक काम होता है साहित्य के अध्ययन के लिए सामान्य नियमों की खोज करना जो थ्योरी या सिद्धांत के अंतर्गत आता है। दूसरा होता है ठोस साहित्यिक रचनाओं का अध्ययन, उनकी व्याख्या और मूल्यांकन, जो लिटररी क्रिटिसिज्म या आलोचना है। तीसरा है साहित्यिक रचनाओं का उनके ऐतिहासिक संदर्भ में कालक्रमानुसार अध्ययन, जो साहित्य के इतिहास के अंतर्गत आता है। साहित्यिक अध्ययन के तीन क्षेत्रों का यह स्पष्ट भेद रेने वेलेक तथा ऑस्टिन वॉरेन ने अपनी पुस्तक 'थ्योरी ऑफ लिटरेचर' (1949) में प्रस्तुत किया है। **वेलेक मानते हैं कि सिद्धांत, इतिहास और आलोचना की कार्यप्रणाली तथा उद्देश्य एक-दूसरे से तत्वतः भिन्न हैं पर तीनों ही परस्पर निर्भर हैं और साहित्य का पूर्ण अध्ययन इस तीनों की सहकार्यता से सम्पन्न होता है।**[48]

कई साहित्य चिंतक ऐसे भी हैं जो इन तीनों में अभेद मानते हैं और किसी दो की सत्ता स्वीकारते हुए तीसरे को अस्वीकार करते हैं। वेलेक तथा वॉरेन से बहुत पहले आधुनिक हिंदी साहित्य के लिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सिद्धांत-निरूपण से समालोचना को अलग मानना उचित समझा है। वे लिखते हैं- "संस्कृत साहित्य में समालोचना का पुराना ढंग यह है कि जब कोई आचार्य या साहित्य मीमांसक कोई नया लक्षण ग्रंथ लिखता

था तब जिन काव्य-रचनाओं को वह उत्कृष्ट समझता था उन्हें रस, अलंकार आदि के उदाहरणों के रूप में उद्धृत करता था और जिन्हें अपुष्ट समझता था उन्हें दोषों के उदाहरणों में देता था। फिर जिसे उसकी राय नापसंद होती थी वह उन्हीं उदाहरणों में से अच्छे ठहराए हुए पद्यों में दोष दिखाता था और बुरे ठहराए हुए पद्यों में दोष का परिहार करता था। इसके अतिरिक्त जो दूसरा उद्देश्य समालोचना का होता है—अर्थात् कवियों की अलग-अलग विशेषताओं का दिग्दर्शन—उसकी पूर्ति किसी कवि की स्तुति में दो-एक श्लोकबद्ध उक्तियाँ कह कर ही लोग संतोष मान लिया करते थे।...किसी कवि या पुस्तक के गुण दोष या सूक्ष्म विशेषताएँ दिखाने के लिए एक दूसरी पुस्तक तैयार करने की चाल हमारे यहाँ न थी। योरप में इसकी चाल खूब चली। वहाँ समालोचना काव्यसिद्धांत निरूपण से स्वतंत्र ही एक विषय हो गया।"[49] स्पष्ट है कि शुक्ल जी के सामने समालोचना के दो उद्देश्य थे जो परस्पर भिन्न थे। एक है सिद्धांत निरूपण जिसके केंद्र में काव्य-संबंधी नियम होते हैं और नियमों को सिद्ध करने वाली रचना गौण होती है। समालोचना का दूसरा उद्देश्य वह है जिसमें साहित्य-संबंधी नियम केवल माध्यम भर होते हैं, केंद्र में रचना होती है। समालोचना का यह दूसरा उद्देश्य ही शुक्ल जी के अनुसार 'उच्च कोटि की समालोचना' है। यानी वह समालोचना जो वेलेक और वारेन की शब्दावली में 'कंक्रीट लिटररी वर्क ऑफ आर्ट'[50] की विशेषताओं की खोज और उनकी व्याख्या और मूल्यांकन करती है।

शुक्लोत्तर आलोचक नंददुलारे वाजपेयी साहित्यिक आलोचना के स्वरूप को व्यापक मानते हुए उसके भीतर सिद्धांत और व्यावहारिक दोनों को शामिल मानते हैं। उनका मानना है- "साहित्यिक आलोचना ऐसी कोई छोटी वस्तु नहीं है, जिसे कोई एक व्यक्ति अपनी निजी मानयताओं से सीमित कर सके। उसका प्रसार सहस्त्रों वर्षों और सुदूर देशों में होता रहा है। उसके निर्माण और विकास में संसार के कुछ महान मस्तिष्कों ने योग दिया है

। एक ओर उसका सिद्धांत पक्ष है, जिसकी शाखाएँ दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में फैली हुई हैं; दूसरी ओर उसका क्रियमाण या व्यावहारिक रूप है जो मानव-भावना, कल्पना और सौंदर्य चेतना की सांस्कृतिक भूमियों पर प्रसारित है।"[51]

आलोचक नामवर सिंह साहित्यशास्त्र को आलोचना से भिन्न मानते हैं। उनके अनुसार, "शास्त्र को अंग्रजी में थियरी कहते हैं; पुराना शब्द 'प्रिंसपल्स' है।...**लेकिन साहित्य की थियरी आलोचना नहीं है। शास्त्र बनाना एक प्रकार का काम है, आलोचना दूसरे प्रकार का काम है। जरूरी नहीं कि जो शास्त्र निर्माण में दक्ष हो, वह अच्छा आलोचक भी हो**। हमारे यहाँ संस्कृत में आलोचना प्रसंगवश आई है। किंतु मैं स्पष्ट कर दूँ कि संस्कृत में आलोचना है ही नहीं, थियरी है। संस्कृत में केवल सिद्धांत बनते रहे हैं—ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार, रीति, औचित्य आदि। इसलिए अलग-अलग आचार्यों ने सिद्धांत बनाए और सिद्धांत बनाने के क्रम में उनका ध्यान रहता था कि उस सिद्धांत में कहीं कोई झोल, कोई असंगति, कोई अंतर्विरोध न रह जाए। वहाँ रचनाशीलता केवल उदाहरण बनकर आती है , मूल रचना का विश्लेषण अपेक्षित नहीं होता है।...यह काव्यशास्त्र की सीमा है।"[52] इस संस्कृत काव्यशास्त्रीय परिदृश्य के उदाहरण के माध्यम से शास्त्र (सिद्धांत) और आलोचना का अंतर बताते हुए नामवर सिंह आगे कहते हैं- "आलोचना शास्त्र नहीं है बल्कि आलोचना उसमें निहित है, जिसको मूल्य-निर्णय कहते हैं। शास्त्र लक्षण गिना सकता है, उदाहरण दे सकता है कि कहाँ लक्षणा है, कहाँ व्यंजना है। व्यंजना तो कहीं भी हो सकती है, लेकिन जरूरी नहीं कि वह उत्तम काव्य भी हो। जरूरी यह भी नहीं कि जिसे कभी उत्तम काव्य कहा गया, वह सब समय के लिए उत्तम काव्य हो। इसमें सिद्धांत का आग्रह इतनी दूर तक होता है कि अच्छी और बुरी कविता का भेद मिट जाता है। **शास्त्र की सीमाएँ वहाँ होती हैं जहाँ से आलोचना शुरू होती हैं**।"[53] नामवर

जी की इस बात से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि शास्त्र या थियरी या सिद्धांत समय की जरूरत या समय के साथ बदलते मूल्यों के साथ तेजी से नहीं बदला करते, शास्त्र का स्वभाव है स्थिर होना, युग और साहित्य का धर्म है गतिशील होना। एक समय के समाज के लिए जो साहित्य उत्तम था, बदले युग और बदले मूल्यों में वही काव्य प्रतिक्रियावादी भी हो सकता है। युग-दृष्टि की इस गतिशीलता को समझना, रचना के समयानुकूल उचित मूल्यांकन के लिए स्वयं भी इस गतिशीलता को धारण करना आलोचना का धर्म है। यहीं आलोचना शास्त्र से अलग स्वभाव का कर्म हो जाती है।

हिंदी की प्रमुख समीक्षक-आलोचक निर्मला जैन आलोचनाधर्मी विविध प्रयासों से 'ठेठ आलोचना' को अलग मानती हैं। उनका मानना है कि अनुसंधान, सिद्धांत-निरूपण, पांडित्यपूर्ण अध्ययन, साहित्येतिहास आदि आलोचना के लिए उपयोगी हो सकते हैं, खुद आलोचना नहीं हो सकते। ठेठ आलोचना के लिए आलोचना का सही संदर्भ और आलोचना की सार्थकता की कसौटी वे ठोस रचनाओं की समीक्षा मानती हैं।[54]

कवि-आलोचक अशोक वाजपेयी आलोचना में ईमानदारी के लिए सिद्धांत पक्ष की आवश्यकता महसूस करते हुए संकेत करते हैं- "अपने कर्तव्य को ईमानदारी से पूरा करने के लिए ज़रूरी है कि **आलोचक के पास सिद्धांत और धारणाएँ हों। पर आलोचक का अभिप्राय इन सिद्धांतों की सिद्धि की खोज नहीं है**।"[55] सिद्धांत की सिद्धि के लिए रचना को केवल माध्यम मानना आलोचना नहीं है, यह मान्यता आचार्य शुक्ल और नामवर सिंह की तरह अशोक वाजपेयी की भी है।

विश्वप्रसिद्ध फिलीस्तीनी-अमेरिकी शिक्षक, राजनीतिक कार्यकर्ता और समालोचक एडवर्ड सईद ने अपनी पुस्तक 'द वर्ल्ड, द टेक्स्ट एंड द क्रिटिक' (1983) में आलोचना के चार प्रकार अपने समय में प्रचलित मानते हैं- एक है व्यावहारिक समीक्षा जो

पुस्तक समीक्षा और साहित्यिक पत्रकारिता के रूप में प्रचलित है; दूसरा प्रकार है अकादमिक साहित्येतिहास लेखन का, जो उन्नीसवीं शताब्दी में प्रचलित विशेषज्ञताओं जैसे- प्राचीन शास्त्रज्ञान, भाषाशास्त्र तथा सांस्कृतिक इतिहास से उद्भूत आलोचना का रूप है; तीसरा प्रकार साहित्यिक रचनाओं के आस्वाद और व्याख्या का है, जो प्रधानतः अकादमिक ही है लेकिन पहले दोनों प्रकारों की तरह शुद्ध अकादमिक या साहित्यिक दायरे में सीमित नहीं है; चौथा प्रकार साहित्य सिद्धांत है, जो अपेक्षाकृत नया क्षेत्र है।" [56]

बीसवीं शताब्दी के आखिरी दो दशकों में थ्योरी यानी सिद्धांत पर गहन विचार करने वाले आलोचक टेरी ईगल्टन के हवाले से गोपीचंद नारंग ने आलोचना और थ्योरी के अंतर और संबंध को बताया है। वे लिखते हैं- "साहित्यिक थ्योरी चिंतन-मनन करती है आलोचना के बारे में और साहित्यालोचना चिंतन-मनन करती है साहित्य के संबंध में और साहित्य चिंतन-मनन करता है जीवन के विषय में।"[57] ईगल्टन आलोचना और सिद्धांत को एक ही वस्तु नहीं मानते। आलोचना का मुख्य कार्य साहित्य का अध्ययन है और उसके माध्यम से जीवन की उन चिंताओं या प्रश्नों पर विचार करना है जो साहित्य का केन्द्रीय विषय हैं। साहित्यिक सिद्धांत आलोचना पर विचार करता है और उसे वह निश्चित दृष्टिकोण व मानदंड प्रदान जिसके आधार पर आलोचना अपना काम करती है। अतः ईगल्टन आलोचना के लिए सिद्धांत का होना अनिवार्य मानते हैं।

आलोचना और शास्त्र/सिद्धांत (थ्योरी) के संबंध पर आलोचक एकमत नहीं हैं। आलोचना को परिभाषित करते हुए नंददुलारे वाजपेयी, एडवर्ड सईद आदि 'लिटेररी थ्योरी' को भी आलोचना के प्रमुख रूपों में एक रूप मानते हैं। रामचंद्र शुक्ल, नामवर सिंह शास्त्र या सिद्धांत को आलोचना से अलग साहित्यिक कर्म मानते हैं। शास्त्र को आलोचना मानने,

न मानने पर भी एक बिंदु पर सभी साहित्य-चिंतक एकमत हैं कि सिद्धांत ही व्यावहारिक आलोचना के लिए सुनिश्चित ढाँचा—दृष्टिकोण और भाषा प्रदान करते हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सिद्धांत या शास्त्र साहित्यकार को दृष्टि या सीख देते हैं। वे एक शिक्षक की तरह साहित्यकार को ट्रेनिंग देने और उसके बाद पहले से निर्धारित खाके के अनुसार साहित्यकार की रचना, उसकी प्रतिभा, उसके ज्ञान, उसके अभ्यास की जाँचकर उसे उत्कृष्ट या निकृष्ट श्रेणी में रखते हैं। परंतु **आलोचना का दावा है कि रचनाकार की शिक्षक नहीं, उसकी सहयात्री है, उसी की तरह वह एक सांस्कृतिक और सर्जनात्मक कर्म है। रचना की तरह आलोचना भी सिद्धांत और शास्त्र से दिशा-निर्देश ले सकती है लेकिन वह शास्त्र या सिद्धांत की लीक पर आँख मूँद कर चलने वाली विधा नहीं है और न ही वह स्वयं शास्त्र या सिद्धांत है।**

2.3 रचना और आलोचना का अंतर्सम्बन्ध

आलोचना की अवधारणा को समझने का एक महत्वपूर्ण बिंदु रचना से उसके संबंध का है। भारतेंदु युग में आधुनिक हिंदी आलोचना के आरम्भिक प्रयास भी कृति-केंद्रित ही थे। द्विवेदी युग के समालोचक मिश्र बंधुओं ने आलोचना को सत्साहित्य को प्रोत्साहन देकर तथा कुत्सित साहित्य को रोक कर किसी भी भाषा के साहित्य को दृढ़ करने का माध्यम माना है, इस तरह आलोचना को रचना केंद्रित मानते हुए भी उसका सामाजिक-सांस्कृतिक उद्देश्य मुख्य माना है।[58]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सही अर्थों में समालोचना उसे ही कहा जिस लेखन में रचना के माध्यम से रचनाकार की अंतर्वृत्तियों की छानबीन कर उसका मर्म आम पाठक तक पहुँचा सकने में सक्षम हो। रचना को गौण रखकर साहित्य के गुण-दोष और लक्षण-

निर्धारण के शास्त्र को वे समालोचना नहीं मानते। रचना की तरह समालोचना को भी वे स्थायी साहित्य में स्थान पाने योग्य मानते हैं पर तभी जब वह 'किसी कवि (साहित्यकार) की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराने वाली, उसकी विचारधारा में डूबकर उसकी अंतर्वृत्तियों की छानबीन करने वाली पुस्तक हो।' कहने का तात्पर्य यह कि समालोचना के केन्द्र में रचना हो न कि वह केवल अपनी सिद्धांत-सिद्धि का माध्यम भर हो । आचार्य शुक्ल समालोचना की 'असली पद्धति' व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक ढंग की समालोचना को मानते हैं । व्याख्या और मूल्य-निर्णय रचना या रचनाकार विशेष को ही केंद्र में रखकर हो सकता है।[59]

आलोचना को रचना केंद्रित विधा मानते हुए भी हिंदी आलोचना के विकासक्रम में मनुष्य, समाज, संस्कृति, राजनीति आदि विषय केंद्र में आते गए । इस तरह आलोचना रचना के बाद का साहित्यिक कर्म होने के बजाय उसके समानांतर उन्हीं समस्याओं को रेखांकित करने और सुलझाने का माध्यम होने लगी, जो रचना के भी अपने विषय हैं । इस स्थिति को, रचना और आलोचना के इस समानांतर संबंध को आलोचक नामवर सिंह नए सिरे से परिभाषित करते हुए कहते हैं कि 'आलोचक मध्यस्थ नहीं है । न वह व्यावसायिक पत्रिकाओं में प्रायः अपने हस्ताक्षर और चित्र के साथ प्रकट होने वाला साहित्यिक 'एजेंट' है, न कवि और छात्र के बीच का भाष्यकार । इस परिभाषा के अनुसार प्रत्येक कृति एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है और कृतिकार, पाठक और आलोचक इस एक ही प्रक्रिया के अंग हैं, जिनमें से प्रत्येक की प्रतिक्रिया उस प्रक्रिया की ही अनिवार्य कड़ी है । इस प्रकार आलोचक कवि या पाठक के लिए नहीं लिखता, किसी कृति पर लिखना उसका ऐतिहासिक दायित्व है, प्रसंगवश उससे कवि या पाठक प्रभावित भले ही हो जाएँ, लेकिन उस एक सांस्कृतिक प्रक्रिया में अपनी भूमिका अदा करने के लिए वह प्रथमतः रचनाकार

के समान ही वह अपने लिए लिखता है, क्योंकि किसी और के लिए लिख ही नहीं सकता—चाहे भी तो नहीं। यदि वह किसी और के लिए लिखता है तो अपने साथ ही दूसरे को भी छलता है । इस दृष्टि से आलोचक मूलतः उक्त सांस्कृतिक प्रक्रिया के अंतर्गत अपने अनुभवों, विचारों और सपनों को ही सुस्पष्ट एवं व्यवस्थित करने के लिए संघर्ष करता है। आलोचक का आत्मसंघर्ष भी रचनाकार के समान ही महत्वपूर्ण है—बल्कि व्यवहार में वह आत्मसंघर्ष और भी पेंचीदा होता है, क्योंकि वह दुहरा होता है।"[60] नामवर जी के इस विचार से एक बात स्पष्ट होती है कि कृति के उद्देश्य संबंधी धारणा बदलने से आलोचना से उसके संबंध की धारणा भी बदलती है। समाज के जिस विकास-क्रम में, सभ्यता के इतिहास के जिस युग में रचना का काम पाठक को आनंद देना माना गया, उस दौर में आलोचना को आनंद-प्राप्ति की प्रक्रिया में अपनी व्याख्या तथा निष्कर्षों के माध्यम से सहायक होना माना गया। इसी तरह जब रचना को समाज सुधार का माध्यम माना गया तब आलोचना भी सामाजिक कर्म माना गया। **नामवर सिंह बीसवीं सदी के सातवें दशक में कृति या रचना को एक सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित कर रहे हैं तो आलोचना भी उसी प्रक्रिया में आलोचक की मौलिक भूमिका अदा करने का माध्यम बनती है। आलोचना अब रचना की व्याख्या न होकर उसे केंद्र में रखने वाली पर उसी के समानांतर और उतना ही गम्भीर कर्म हो जाती है।**

निर्मल वर्मा ने रचनाकर के दृष्टिकोण से आलोचक तथा साहित्य के बीच के संबंध पर विचार किया है। यह संबंध कैसा है से अधिक कैसा होना चाहिए की तरफ ही उनके विचार अधिक झुके हैं लेकिन इससे आलोचना से रचनाकार की अपेक्षाओं का पक्ष समझ में आता है जो रचना से आलोचना के अंतर्संबंध के अंतर्गत है। निर्मल वर्मा का मानना है कि आलोचना को साहित्य का आलोक स्तंभ होना चाहिए। आलोक स्तंभ रात के अंधेरे

में दिशाहीन विस्तृत समुद्र में जहाज लेकर उतरे नाविकों को किनारे की दिशा देता है। आलोचना भी साहित्य को उसी तरह दिशा देने का कार्य करे जिससे साहित्य अपने उद्देश्य से न भटके। लेकिन आलोचना में इस क्षमता के लिए वे मानते हैं- "यह तभी संभव है जब आलोचना राजनीतिक पूर्वाग्रहों से मुक्त हो, पाठक को-समाज को अच्छे सशक्त साहित्य व दुर्बल निष्प्राण साहित्य के बीच अंतर करने का विवेक प्रदान करने वाली हो।"[61] निर्मल वर्मा अच्छी आलोचना को साहित्य के मूल्यांकन के अलावा जीवंत साहित्य रचे जाने के उपयुक्त माहौल बनाने वाली विधा मानते हैं तथा पढ़ने की संस्कृति का निर्माण करने वाला सांस्कृतिक कर्म भी।

मैनेजर पांडेय आलोचना का काम संस्कृति के क्षेत्र में जनतंत्रीकरण की प्रक्रिया को मजबूत बनाना मानते हैं और इसके लिए आलोचना का सार्थक होना आवश्यक मानते हैं। इस सार्थकता के संदर्भ में ही आलोचना और रचना के संबंध को वे परिभाषित करते हैं। सार्थक आलोचना का लक्षण बताते हुए वे लिखते हैं- "आलोचना में अगर विचारों की नवीनता, व्याख्या की विश्वसनीयता और भाषा की रचनात्मकता ऐसी है जो पाठकों की साहित्यिक समझदारी और उनकी सामाजिक संवेदनशीलता का विकास करे, उन्हें बेहतर मनुष्य बनाए तो वह सार्थक आलोचना ही होगी।"[62] रचना की और उसके परिवेश की समीक्षा के माध्यम से अंततः पाठक को बेहतर मनुष्य बनाने का लक्ष्य लेकर चलने वाली आलोचना का रचना के साथ कैसा संबंध होता है, इसे स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं- "आलोचना का लक्ष्य रचना की मात्र व्याख्या या उसका भाष्य नहीं है। आलोचना का दायित्व है रचना के अर्थ की खोज और उसकी सार्थकता की पहचान, वह रचना चाहे पुरानी हो या नयी। रचना का अर्थ रचना-निष्ठ होता है और उसकी सार्थकता समाज-सापेक्ष। आलोचना रचना का विश्लेषण करती हुई उसकी संकल्पना, बनावट और भाषा के प्रयोग

की विशेषताओं का विश्लेषण करती हुई उसके अर्थ की खोज करती है। फिर वह रचना के मूल्यांकन के समय उसके संवेदनात्मक उद्देश्य तथा विचारधारात्मक अभिप्राय की व्याख्या करती हुई उसकी सार्थकता की पहचान करती है।"[63]

रामस्वरूप चतुर्वेदी आलोचना के विकास की दो शर्तें बताते हैं- एक तो यह कि उसका मुख्य संदर्भ रचनात्मक साहित्य हो न कि शास्त्र; दूसरा यह कि अपने संदर्भ में वह समकालीन साहित्य से जुड़ा हो, फिर भले उसके विश्लेषण में नया-पुराना समूचा साहित्य आता हो।[64] टेरी ईगल्टन की सिद्धांत-आलोचना-साहित्य संबंधी मान्यता के प्रसंग में देखा गया कि आलोचना शास्त्र और साहित्य के बीच काम करती है। अतः इसका संदर्भ दोनों हो सकते हैं और होते हैं। रामस्वरूप चतुर्वेदी शास्त्र को मुख्य और रचना को गौण मानने को आलोचना के विकास के लिए उचित नहीं मानते। इस तरह रचना आलोचना के लिए व्याख्यायोग्य वस्तु ही नहीं, उसके होने का उचित संदर्भ भी है। उनका मानना है कि किसी भी युग की रचनाशीलता ही आलोचना को सही अर्थों में उत्पन्न करती है।

रचना और आलोचना के अंतर्संबंध के विषय में अपना मत प्रस्तुत करते हुए हिंदी के समकालीन आलोचकों मे प्रमुख रोहिणी अग्रवाल आलोचना के विषय में कहती हैं- "आलोचना कृति की टीका नहीं है। वह फौरी तौर पर कृति पर आधारित दिखती है, लेकिन दरअसल कृति के बहाने वह समय की शिनाख्त और अपनी भीतरी हलचलों की पड़ताल ही करती है। आलोचना आलोचक की दृष्टि और बोध, सरोकार और दायित्व से बँधा समय का विश्लेषणात्मक आख्यान है।"[65]

आलोचना को अन्य साहित्यिक रचनाओं तथा रचना को संभव बनाने वाले परिवेश की व्याख्या-विश्लेषण-मूल्यांकन से उद्देश्य से प्रेरित विधा कहा जाता है। रचना के संदर्भ के बिना आलोचना नहीं हो सकती। आलोचना की अवधारणा में ही रचना के साथ

उसका संबंध निहित है। आलोचना या साहित्य-समीक्षा की दृष्टि का जन्म रचना के ही साथ होता है। इस संबंध में निर्मला जैन लिखती हैं- "कालजयी साहित्यिक कृतियाँ अपने सृजन के साथ कुछ मान-मूल्य लेकर आती हैं। वे पाठकों की रुचि का निर्धारण करती हैं और उनमें आगे आने वाली कृतियों के लिए कुछ अपेक्षाएँ जगाती हैं। इस प्रकार साहित्य-समीक्षा का आरम्भ एक प्रकार से साहित्य के साथ ही हो जाता है।"[66] साहित्यिक कृति आलोचना के लिए जमीन तैयार करती है, कृति पाठकों में अपेक्षाएँ जगाती है जिन्हें पूरा कर सकने के लिए साहित्य रचना के शास्त्र का क्रमशः विकास होता है तथा कौन-सी कृति पाठकों की अपेक्षाओं को संतुष्ट कर सकने में समर्थ हुई है, इसका मूल्यांकन करने की परम्परा भी विकसित करती है।

निष्कर्ष रूप में हम देखते हैं कि आलोचना की अवधारणा, इसके उद्देश्य तथा रचना से इसके संबंध के विषय में आलोचकों की समझ युगीन साहित्यिक-सामाजिक परिस्थिति और मान्यता के अनुरूप बदलती रही है। आलोचना की अवधारणा के बदलने के साथ-साथ उसकी भूमिका और उसके प्रकार्य भी बदलते रहे हैं जिससे इसकी प्रासंगिकता बनी रहती है। साहित्य की व्याख्या करने के अपने प्राथमिक कर्म को न त्यागते हुए भी आलोचना निरंतर जटिल होते सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक परिदृश्यों की व्याख्या करने वाली सभ्यता-समीक्षा बनी है।

***

संदर्भ सूची

1. अवस्थी, देवीप्रसाद, 2013, आलोचना और आलोचना, नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, पृष्ठ-15
2. त्रिपाठी, डॉ. श्रीकृष्णमणि (व्याख्याकार), 2016, कविराजश्रीराजशेखरप्रणीता काव्यमीमांसा, वाराणसी: चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, पृष्ठ-34
3. कक्कड़, डॉ. राज किशोर, 1968, आधुनिक हिंदी साहित्य में आलोचना का विकास, नई दिल्ली: एस चंद एंड कम्पनी लि., पृष्ठ- 2
4. प्रेमघन सर्वस्व (द्वितीय भाग), 1950, संपादक- श्री प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय तथा श्री दिनेश नारायण उपाध्याय, प्रयाग: हिंदी साहित्य सम्मेलन, पृष्ठ: 446
5. वही, 440)
6. जैन, डॉ. निर्मला, 2000, हिंदी आलोचना की बीसवीं सदी, नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ- 10
7. द्विवेदी, महावीरप्रसाद, 1928, आलोचनाञ्जलि, प्रयाग: इंडियन प्रेस लिमिटेड, पृष्ठ- 1
8. वही, पृष्ठ- 33
9. साहित्यालोचन, पृष्ठ- 236
10. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, सं. 2069 वि., हिंदी साहित्य का इतिहास, वाराणसी: नागरीप्रचारिणी सभा, पृष्ठ- 284
11. जैन, डॉ. निर्मला, 2000, हिंदी आलोचना की बीसवीं सदी, नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ- 30
12. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, 2012, हिंदी साहित्य का इतिहास, वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा 306

13. जैन, डॉ. निर्मला, 2000, हिंदी आलोचना की बीसवीं सदी, नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन, 30
14. वाजपेयी, नंददुलारे, 1955, नया साहित्य, नये प्रश्न, बनारस: विद्यामंदिर, 22)
15. डॉ. नगेन्द्र, 1968, आस्था के चरण, नई दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ- 212
16. डॉ. नगेन्द्र, 1968, आस्था के चरण, नई दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ- 329
17. डॉ. नगेन्द्र, 1968, आस्था के चरण, नई दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 218
18. डॉ. नगेन्द्र, 1968, आस्था के चरण, नई दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 319
19. चौहान, शिवदानसिंह, 1955, साहित्यानुशीलन, नई दिल्ली: आत्माराम एंड संस, पृष्ठ- 4
20. वही, पृष्ठ-19
21. शर्मा, रामविलास, 2011, परम्परा का मूल्यांकन, नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, भूमिका
22. आलोचना का द्वंद्व, 33
23. समालोचन ब्लॉग, 2011 की प्रविष्टि,
24. वही
25. पाण्डेय, मैनेजर, 2017, आलोचना की सामाजिकता, नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 23
26. लिटररी थ्योरी एंड क्रिटिसिज्म, संपादक- पैट्रिशिया वॉ, 37

27. जैन, निर्मला, 2017, काव्य-चिंतन की पश्चिमी परम्परा, नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 9

28. वही, 73

29. तिवारी, रामचंद्र, भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र की रूपरेखा, इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन, 151

30. वही, 153

31. Preface to the Lyrical Ballads: A Critical Evaluation, 72

32. Arnold, Matthew, 2009, Essays in Criticism (ed.-Aditya Nandwani), New Delhi: Anmol Publication, 26

33. Selden, Raman, Peter Widowson, Peter Brooker, 2007, A Readers Guide to Contemporary Literary Theory, Pearson Education, 26

34. पाश्चात्य साहित्य चिंतन, निर्मला जैन, 127

35. वही, 128

36. Dictionary of Critical theory, 109

37. Waugh, Patricia, 2006, Literary Theory and Criticism: An Oxford Guide, Oxford University Press, 216

38. Selden, Raman, Peter Widowson, Peter Brooker, 2007, A Readers Guide to Contemporary Literary Theory, Pearson Education, 41

39. नारंग, गोपीचंद, 2014, संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद एवं प्राच्य काव्यशास्त्र, नई दिल्ली: साहित्य अकादमी, 75

40. Selden, Raman, Peter Widowson, Peter Brooker, 2007, A Readers Guide to Contemporary Literary Theory, Pearson Education, 45

41. वही, 46

42. वही, 48

43. वही, 48

44. वाद विवाद संवाद, 39

45. Waugh, Patricia, 2006, Literary Theory and Criticism: An Oxford Guide, Oxford University Press, 260

46. वही, 265

47. नारंग, गोपीचंद, 2014, संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद एवं प्राच्य काव्यशास्त्र, नई दिल्ली: साहित्य अकादमी, 126

48. वेलेक, रेने तथा ऑस्टिन वारेन, 2012, साहित्य-सिद्धांत (अनु.-बी. एस. पालीवाल), इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, 52

49. हिंदी साहित्य का इतिहास, 287

50. वेलेक, रेने तथा ऑस्टिन वारेन, 2012, साहित्य-सिद्धांत (अनु.-बी. एस. पालीवाल), इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, 52

51. नया साहित्य: नये प्रश्न, 133

52. आलोचना और विचारधारा, 147

53. वही, 148

54. हिंदी आलोचना की 20वीं सदी, भूमिका.

55. फिलहाल, 191

56. The World, The Text and the Critic, 1

57. संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र, 358

58. मतिराम ग्रंथावली, 20

59. हिंदी साहित्य का इतिहास, 306

60. वाद विवाद संवाद, 22

61. साहित्य का आत्मसत्य, 70

62. आलोचना की सामाजिकता, 33

63. आलोचना की सामाजिकता, 34

64.चतुर्वेदी, रामस्वरूप, 2021, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ-170

65. पल प्रतिपल 86-87, 175

66. पाश्चात्य साहित्य चिंतन, 13